मनु और स्त्रियाँ

लेखक:—

श्री चिन्तामणि "मणि"

भूमिका लेखक:—

मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

मूल्य ३)

प्रकाशकः—

इण्डिया बुक एजेन्सी

६७ महाजनी टोला,

इलाहाबाद।

प्रथमबार ११००

मुद्रकः—

छेदीलाल जायसवाल,

सेवा प्रेस, ५४ हेविट रोड,

इलाहाबाद।

प्राक्कथन

मनु स्मृति वैदिक-संस्कृति का एक अमूल्य ग्रन्थ है। कहा भी है कि "यद् वै किं च मनुरवदत् तद्भेषजम्" अर्थात् जो कुछ मनु ने कहा है वह औषधि रूप है। परन्तु कुछ दिनों से वैदिक-साहित्य की अवहेलना करना फैशन सा हो गया है। इसमें कुछ भ्रम और कुछ स्वार्थ भी सम्मिलित है, इसमें सन्देह नहीं कि मनुस्मृति जैसे अति प्राचीन ग्रन्थ में यत्रतत्र: विकार होना भी संभव है। परन्तु इस प्रकार के स्थल न्यून हैं और उनको जान लेना कठिन नहीं है। मनुस्मृति में संस्कृति की जो रूप-रेखा प्रदर्शित की गई है वह न केवल प्राचीन-काल के लिये

ही उच्च थी अपितु आजकल की सभ्यता के प्रकाश में भी उसकी उपयोगिता कम नहीं हुई। लोग समझते हैं कि आजकल आदर्श और आचार का तल बहुत बढ़ गया है। इसी भाव से प्रेरित होकर वह प्राचीन-काल की उच्च बातों को भी अनादर की दृष्टि से देखने लगते हैं। आजकल का दृष्टि-कोण यह है कि जो कुछ पुराना है सब अनिष्ट है। परन्तु समय आयेगा जब लोग अपनी इस भूल को स्वीकार करेंगे। "मनु और स्त्रियाँ" इस पुस्तक में यह दिखाने का यत्न किया गया है कि मनु में स्त्रियों को उच्च-दृष्टि से देखने का विधान है। यद्यपि मैं इस पुस्तक को आद्योपान्त नहीं पढ़ सका तथापि बहुत कुछ अंश देखा है। मुझे यह पुस्तक बहुत उपयोगी और सुन्दर प्रतीत होती है। आजकल आवश्यकता है कि वैदिक-साहित्य को उसके निज-स्वरूप में दिखाया जाय। वैदिक-साहित्य के साथ अन्याय करके वर्तमान-युग ने मानव-जाति का बड़ा अनुपकार किया है।

प्रयाग
२५-३-३५

गंगाप्रसाद उपाध्याय

मनु और स्त्रियाँ

ग्रंथकार—श्री चिन्तामणि "मणि"

दो शब्द

सन् १९३५ का वह दिन मुझे स्मरण है। उन दिनों राज-नीतिज्ञ-नेताओं की कार्य-कुशलता ने बृटिश-साम्राज्य में एक हड़कम्प सा मचा रक्खा था। नवयुवकों के हृदय-सम्राट श्री पं० जवाहरलाल नेहरू और विश्ववन्द्य महात्मा मोहनदास कर्मचंद गांधी की कौन कहे, देश के उन छोटे से छोटे लोगों ने जेल की चहार-दीवारी के अन्दर पहुँच कर गौरव-लाभ किया था, जिनके घर में सुबह भोजन है तो शाम को फाँका-कसी का दृश्य स्थित रहता है। उन्हीं दिनों मैंने गुरुकुल वृन्दावन की यात्रा की थी। निश्चय ही इस छोटे से जीवन में पहली बार मुझे वहीं

मनुस्मृति के दर्शन हुये थे। यद्यपि इसके पूर्व मैं पाराशर, व्यासादि स्मृतियों का दर्शन कर चुका था, परन्तु मनुस्मृति की लालसा हृदय में घर कर चुकी थी। वह इसलिये कि वैदिक-साहित्य में मनुस्मृति को स्थान है, तथापि सनातनी-बंधु तो इसे वेद का रूप दे देते हैं, यहाँ तक कि वे तो मनुस्मृति में उपलब्ध प्रत्येक शब्दों को "बाबा वचनं किं प्रमाणम्" के आधार पर (संपूर्ण मनुस्मृति को) सत्य-सिद्ध मानते हैं, परन्तु मैं इसका कायल नहीं।

मनुस्मृति को आद्योपान्त मैंने कई बार पढ़ा, दिलचस्पी बढ़ती ही गई। यद्यपि कुछ स्थल मुझे अनुचित प्रतीत हुये, जो प्रत्येक पढ़ने वाले को स्पष्ट समझ में आ सकते हैं, परन्तु, जब कि कल की लिखी गई तुलसीकृत रामायण की दुर्दशा कर डाली गई है तो मनुस्मृति जैसी सहस्रों वर्ष की पुरानी चीज़ के सम्बन्ध में कहना ही क्या ?

इधर गत-वर्ष सुधा में श्री जङ्गबहादुर सिंह जी, असिस्टेन्ट एडिटर ट्रिब्यून (लाहौर) ने "तितलीमार मनु चाचा" लिख कर मुझे मनुस्मृति का गंभीरता पूर्वक पारायण करने के लिये और प्रोत्साहित कर दिया। अध्ययन का जो परिणाम रहा वह आप लोगों के सामने है।

'सुधा' में जब "तितलोमार मनु चाचा" शीर्षक लेख निकला था, मैंने उसे आद्योपान्त कई बार पढ़ा था। जिन दोषों का दिग्दर्शन श्री जंगबहादुर सिंह जी ने कराया था, वे दोष मेरी अपनी समझ में जंगबहादुर सिंह जी के अनर्गल प्रलाप थे। यद्यपि मैंने तत्काल ही उनके लगाये हुये दोषों के परिष्कार-स्वरूप "वेदोदय" और "आर्य-मित्र" आदि पत्रों में लेख निकलवा दिये थे तथापि उससे मुझे संतोष नहीं हुआ। इसलिये कि जंगबहादुर सिंह जी जैसे अन्य अनेकों व्यक्ति भ्रम में पड़ कर चक्कर खा रहे हैं। कितने पश्चिमीय सभ्यता के प्रभाव में आ कर मनुस्मृति का बहिष्कार तक कर देने को तुले दृष्टिगत होते हैं, वह इसलिये कि जिसके कारण की ओर अपने प्राक्कथन में माननीय उपाध्याय जी ने संकेत कर दिया है। अतः उस बात की पुनर्चर्चा करना अनुपयुक्त है।

इस पुस्तक की रचना जब मैं कर रहा था, दैवीगति से मेरे जीवन में अनेक विषमताओं का संयोग हो गया। जिसके कारण प्रूफादि संशोधन और विचारों का भली प्रकार प्रकाश करने की लालसा विलुप्त हो गई। मुझे आशा है, अति शीघ्र भविष्य (दूसरे संस्करण) में उन विचारों का

पुनर्प्रकाश करने का मुझे अवसर मिलेगा तथा अशुद्धियों के दूर करने में भी मैं समर्थ होऊँगा।

पुस्तक लिखने के विचार जब मेरी अन्तरात्मा के अन्तर्गत मेघ के सदृश उमड़ रहे थे, सौभाग्यवश श्री रामकिशोर जी अग्रवाल 'मनोज' से अकस्मात् सम्बन्ध हो गया। इस सम्बन्ध का परिणाम यह रहा कि मैं अपनी इच्छा पूर्ण करने में फलीभूत हुआ। अतः 'मनोज' जी इस सम्बन्ध में बधाई के पात्र हैं। प्राक्कथन लिख कर पूज्यपाद उपाध्याय जी ने मेरे प्रति जिस प्रेम का परिचय दिया है, उससे मुझे भविष्य में साहित्य-सेवा करने का एक भारी प्रोत्साहन मिलता है। इस सम्बन्ध में मैं उनका चिरऋणी रहूँगा।

कीटगंज, प्रयाग
२-४-३५

चिन्तामणि

मनु और स्त्रियाँ
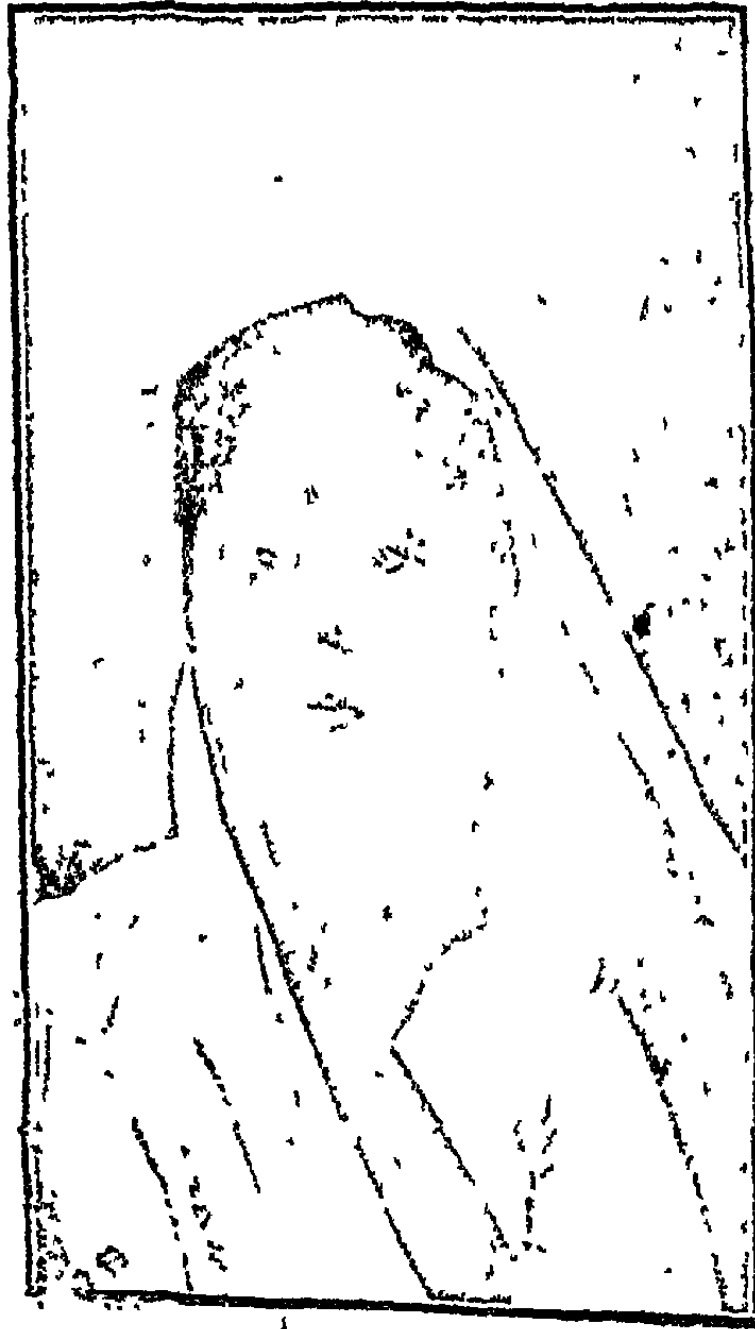
श्रीमती कृष्णा देवी

समर्पण-पत्र

सुनो, प्रिये ! इस विमल विश्व की,
हम तुम प्रतिमा दोनों ।
मायामय मायापति की हैं,
हम तुम महिमा दोनों ॥

हम दोनों गृह के वाहन हैं,
दोनों सम अधिकारी ।
दोनों के दो रूप मनोहर,
संज्ञा है, 'नर', 'नारी' ॥

समर्पण पत्र

अन्तर तनिक न हममें तुममें,
जो तुम हो वह हम हैं।
तुम जननी हम जनक कहावें,
नहीं किसी से कम हैं॥

अहो! प्रणाली यही प्रकृति की,
अरी! प्रेम से रहना।
दोनों मिल कर्त्तव्य करें, यह—
सद्ग्रन्थों का कहना॥

हो स्वतंत्र उतनी ही देखो,
जितनी तुम बल वाली।
निपट निरंकुश कभी न होना,
उच्छृङ्खल मतवाली॥

आत्म-शक्ति भर हूँ स्वतंत्र मैं,
मन मानी कब करता।
निश्चित-मानव-जीवन पर मैं,
फूँक-फूँक पग धरता॥

समर्पण पत्र

यदि भूलूँ सन्मार्ग कभी मैं,
हिल-मिल कर समझाना ।
इसमें ही गौरव-गरिमा है,
कलह न कभी मचाना ॥

सुख, सन्तति, संपति और कीर्ति,
ज्ञान, विभव, मर्यादा ।
संचित होता प्रिये ! लोक में,
तप बल जीवन सादा ॥

यही भाव अंकित कर मन में,
निकट तुम्हारे आया ।
कर लेवें स्वीकार इसे—
उपहार प्रिये ! मैं लाया ॥

विषय-सूची

विषय-सूची

मनु और स्त्रियाँ

विषय-निर्देश

"विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें।"

—स्वामी दयानंद

कुछ लोग भारतवर्षीय आधुनिक युग को "स्त्री-युग" के नाम से संबोधित करते हैं। यद्यपि मैं इस युग की प्रगति पर दृष्टि-पात करता हुआ इस परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि न तो यह "स्त्री-युग" है और न यह युग "पुरुष युग" ही है। वरन् यह अवश्य है, कि यह युग मानवीय-युग होने की ओर अग्रसर हो रहा है। परन्तु फिर भी भारतवर्षीय-भूतल पर अभी इस महान् उद्देश्य के प्रथम चरण ने ही पदार्पण किया है। जो

निश्चय ही भारतवर्ष को निकट भविष्य में उन्नति-शील बनाने में सफल सिद्ध होगा। हमारी इस कल्पना की पुष्टि यों हो जाती है; कि जिस स्थल पर स्त्री-पुरुष के समानाधिकार की चर्चा चल पड़ी हो, फिर भला उसके शीघ्र ही समुन्नत होने में सन्देह ही क्या ? वेद और शास्त्र ऐसे ही युग का सर्वकाल में सम्पादन करते रहने का आदेश करते हैं।

अपने-अपने कर्तव्य को परस्पर प्रेम-पूर्वक सम्हालते हुए स्त्री और पुरुष एक आदर्श गृहस्थी के सुन्दर भव्य एवं दिव्य मूर्त्ति के दो अङ्ग अथवा दो भुजाएँ हैं। गृहस्थी में रहते हुए इन दोनों में एकत्व होना चाहिये। यही एकत्व है, जो गृहस्थी के स्त्री-पुरुष दोनों मूर्त्तियों को संसार में "मनुष्य" संज्ञा से बोध कराता है। वेदों में 'मनुष्य' शब्द मानव-जीवन के अन्दर स्थित 'स्त्री' और 'पुरुष' दोनों के लिये आया है। वेद की इसी पद्धति का अनुकरण मनु आदि स्मृतिकारों ने भी किया है। इसलिये निश्चय ही 'मनुष्य' शब्द का आशय "स्त्री और पुरुष" दोनों के लिये समझना चाहिये। इस 'मनुष्य' संज्ञा के लिये जहाँ जिस स्थान पर और जिस समय समानाधिकार का प्रसार रहता है, वहीं वह स्थान और वह समय

मानव-लोक और मानव-युग के नाम से संबोधित होता है। इस आधार पर जब हम विचार करने बैठते हैं, या कुछ व्यक्तियों की वैयक्तिक कल्पनानुसार जब हम इस युग को "स्त्री-युग" के नाम से पुकारने के लिये मुख खोलते हैं, तो सहसा जिह्वा रुक जाती है, वाणी मूक हो जाती है, हृदय सहम उठता है। इस-लिये कि भारत की स्त्रियाँ सर्वांशतया नर-पिशाच पुरुषों की शक्ति के द्वारा उनकी भयंकर कुप्रथाओं का ग्रास बनी हुई हैं। वे पुरुषों से इस उथल-पुथल-काल में भी कोसों दूर हैं। इनमें प्रतिशत् एक स्त्री भी पढ़ी लिखी नहीं है। प्रतिशत् एक स्त्री भी सभ्य नहीं बन सकी है। फिर मैं इस युग को जो उक्त स्थिति में है, कैसे 'स्त्री-युग' कह कर पुकार सकने का साहस कर सकता हूँ। यह तो 'स्त्री-युग' होने का कोई अर्थ नहीं रखता? लोगों की ऐसी निराधार धारणा लज्जास्पद है। पता नहीं, लोग किस अभिप्रायवश ऐसी विचित्र कल्पना का सहारा ले रहे हैं, जो निश्चय ही तथ्य-शून्य है।

मैंने ऊपर उल्लेख किया है कि भारतवर्षीय भावी-युग मानवीय-युग होने की ओर अग्रसर हो रहा है। यद्यपि अभी उसका प्रथम चरण ही इस भारतवर्षीय भूतल पर पड़ा है,

मनु और स्त्रियाँ

विषय-निर्देश

"विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दें।"

—स्वामी दयानंद

कुछ लोग भारतवर्षीय आधुनिक युग को "स्त्री-युग" के नाम से संबोधित करते हैं। यद्यपि मैं इस युग की प्रगति पर दृष्टि-पात करता हुआ इस परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि न तो यह "स्त्री-युग" है और न यह युग "पुरुष युग" ही है। वरन् यह अवश्य है, कि यह युग मानवीय-युग होने की ओर अग्रसर हो रहा है। परन्तु फिर भी भारतवर्षीय-भूतल पर अभी इस महान् उद्देश्य के प्रथम चरण ने ही पदार्पण किया है। जो

निश्चय ही भारतवर्ष को निकट भविष्य में उन्नति-शील बनाने में सफल सिद्ध होगा। हमारी इस कल्पना की पुष्टि यों हो जाती है; कि जिस स्थल पर स्त्री-पुरुष के समानाधिकार की चर्चा चल पड़ी हो, फिर भला उसके शीघ्र ही समुन्नत होने में सन्देह ही क्या? वेद और शास्त्र ऐसे ही युग का सर्वकाल में सम्पादन करते रहने का आदेश करते हैं।

अपने-अपने कर्तव्य को परस्पर प्रेम-पूर्वक सम्हालते हुए स्त्री और पुरुष एक आदर्श गृहस्थी के सुन्दर भव्य एवं दिव्य मूर्त्ति के दो अङ्ग अथवा दो भुजाएँ हैं। गृहस्थी में रहते हुए इन दोनों में एकत्व होना चाहिये। यही एकत्व है, जो गृहस्थी के स्त्री-पुरुष दोनों मूर्त्तियों को संसार में "मनुष्य" संज्ञा से बोध कराता है। वेदों में 'मनुष्य' शब्द मानव-जीवन के अन्दर स्थित 'स्त्री' और 'पुरुष' दोनों के लिये आया है। वेद की इसी पद्धति का अनुकरण मनु आदि स्मृतिकारों ने भी किया है। इसलिये निश्चय ही 'मनुष्य' शब्द का आशय "स्त्री और पुरुष" दोनों के लिये समझना चाहिये। इस 'मनुष्य' संज्ञा के लिये जहाँ जिस स्थान पर और जिस समय समानाधिकार का प्रसार रहता है, वहीं वह स्थान और वह समय

मानव-लोक और मानव-युग के नाम से संबोधित होता है। इस आधार पर जब हम विचार करने बैठते हैं, या कुछ व्यक्तियों की वैयक्तिक कल्पनानुसार जब हम इस युग को "स्त्री-युग" के नाम से पुकारने के लिये मुख खोलते हैं, तो सहसा जिह्वा रुक जाती है, वाणी मूक हो जाती है, हृदय सहम उठता है। इस-लिये कि भारत की स्त्रियाँ सर्वांशतया नर-पिशाच पुरुषों की शक्ति के द्वारा उनकी भयंकर कुप्रथाओं का ग्रास बनी हुई हैं। वे पुरुषों से इस उथल-पुथल-काल में भी कोसों दूर हैं। इनमें प्रतिशत् एक स्त्री भी पढ़ी लिखी नहीं है। प्रतिशत् एक स्त्री भी सभ्य नहीं बन सकी है। फिर मैं इस युग को जो उक्त स्थिति में है, कैसे 'स्त्री-युग' कह कर पुकार सकने का साहस कर सकता हूँ। यह तो 'स्त्री-युग' होने का कोई अर्थ नहीं रखता ? लोगों की ऐसी निराधार धारणा लज्जास्पद है। पता नहीं, लोग किस अभिप्रायवश ऐसी विचित्र कल्पना का सहारा ले रहे हैं, जो निश्चय ही तथ्य-शून्य है।

मैंने ऊपर उल्लेख किया है कि भारतवर्षीय भावी-युग मानवीय-युग होने की ओर अग्रसर हो रहा है। यद्यपि अभी उसका प्रथम चरण ही इस भारतवर्षीय भूतल पर पड़ा है,

तथापि इसका अनुभव एक शुष्क मस्तिष्क भी कर सकने में समर्थ होगा। मुझे इस भारतवर्षीय भावी-युग को 'मानवीय-युग' रूपी साँचे में ढलते देख कर महान् हर्ष हो रहा है। वस्तुतः एक हर्ष की बात है भी। वह यों, कि लोग अपने-अपने अधिकारों को अपनायेंगे और अपने-अपने भार को सम्हालने में संलग्न होंगे। जिससे महिलाओं का कल्याण होकर उन्हें आनन्द प्राप्त होगा। पुरुष भी अपनी चिरसंगिनी महिलाओं की वास्तविक सहायता पाकर भारतवर्षीय भावी-युग को विशाल, दृढ़ और आदर्श रूप से रख सकने में समर्थ सिद्ध होगा। इस लिये ऐसा काल, मानवी काल एवं युग और वह स्थान मानव-लोक के नाम से प्रसिद्ध होगा। ऐसे स्त्री-पुरुष अपने को "मनुष्य" संज्ञा में द्योतित करने में सफल सिद्ध होंगे।

भारतवर्ष के व्यतीत युग की तो बात ही क्या करना, वर्त्तमान युग में ही कभी कभी ऐसी घटनायें घट जाती हैं। जिनका चित्रण कर हृदय काँप उठता है। नेत्र घृणा प्रकट करते हैं, मस्तिष्क चकरा उठता है और वाणी मूक हो जाती है। इसलिये कि उस पैशाचिक ताण्डव-नृत्यकारी व्यतीत युग का— जिसमें अकारण नर-हत्या का सामान प्रस्तुत था—दिग्दर्शन

कराना लेखनी के सामर्थ्य से परे की बात है। जहाँ स्त्री-पुरुष के समानाधिकार की कौन कहे, पुरुषों के साथ पुरुषों का ही व्यवहार घृणास्पद है। यत्र-तत्र उन त्रिपुण्ड-धारी महात्माओं (पाखंडी साधुओं) और लकीर के फ़कीर सनातनियों का दुर्दान्तचक्र चल ही रहा है। वे धर्मशास्त्रों और स्मृतियों के नाम पर अपने अन्ध-विश्वासों की सिद्धि कर रहे हैं। जिससे असंख्य प्राणी अनेकानेक कष्ट भोगते हुए, कीट पतंगों की भाँति जीवन बिताते हुए बिना मृत्यु के मृत्यु-मुख में जा रहे हैं। फिर क्या ऐसा युग "पुरुष-युग" कहलाने के योग्य है।

दूसरी ओर सुधार-क्षेत्र में इनके दुष्कृत्यों का सर्वनाश करने की प्रेरणा से आधुनिक शिक्षित समाज में एक नवीन लहर उत्पन्न हो गई है, जो भारत की आदरणीय प्राचीन सभ्यता की घातक है। वे इन पाखण्डियों के दुष्कृत्यों से घबरा कर वेद, शास्त्र और स्मृतियों के प्रति कृतघ्नता का भाव रखने लगे हैं। वे ईश्वर की भी अवहेलना करने की हिम्मत करते हैं। ऐसी स्थिति में मानवीय धर्म (कर्तव्य) शास्त्रों (ग्रन्थों) में वास्तविक रूपेण श्रद्धा रखने वाला श्रेष्ठ और सज्जन तथा विचारशील पुरुष, जिसकी दृष्टि में शास्त्रों में सब को सामान्या-

धिकार प्राप्त है, धर्म-शास्त्रों की अवहेलना को नहीं सहन कर सकेगा। मेरी दृष्टि में भी धर्मशास्त्रों की हस्ती मिटाना या उसकी मर्यादा को तिलांजलि देना भारतीय-सभ्यता की संगठित-शक्ति को अथवा साधन को ठुकराना है। इसलिये कि भारतीय धर्म-शास्त्र प्राचीन आदरणीय भारतीय-सभ्यता को प्रदर्शित करते हैं। फिर बड़े-बड़े राष्ट्र इन भारतीय-धर्म-ग्रन्थों की महत्ता के कायल हैं। ऐसी स्थिति में क्यों न किसी भारतीय के लिये भारतीय-धर्म-ग्रन्थ (मानवीय-कर्तव्य-ग्रन्थ) अमृत के तुल्य अथवा उसके प्राण के सदृश प्रतीत हों? वह तो कदापि आधुनिक शिक्षित समाज की सराहना के लिये अपना मुख नहीं खोल सकता। उसका विश्वास है, कि आधुनिक शिक्षित समाज को निश्चय ही पश्चिमीय प्रदेश की गरम लू लग गई है। वे अवश्य ही पश्चिमीय वायु-मण्डल में तरंग ले रहे हैं। वे निश्चय ही भारत को योरप बना देना चाहते हैं। जहाँ के व्यक्त किये गये स्त्री-पुरुष के समानाधिकार के बीच उच्छृंखल भावनाएँ कार्य कर रही हैं। वे लज्जा, शर्म, मर्यादा और सम्मान सभी को तिलांजलि दे चुके हैं। "प्रेम" के नाम पर वहाँ जो कुछ किया जा रहा है, वह निसन्देह मानवीय-सभ्यता का घातक है। जहाँ

पर कुछ काल बाद आपको दिखाई देगा, कि मानवीय जीवन पाशविक और घृणित-जीवन बन रहा है। वहाँ के निवासी स्वयं अपने व्यवहारों को कोसेंगे और स्वयं प्रकट कर देंगे, कि उनका जीवन घृणित वासनाओं से पूर्ण एवं अनाचार युक्त है। तदुपरान्त एक समय निश्चय ही ऐसा आवेगा, कि भारतीय धर्म-शास्त्रों में वर्णित मानव दिनचर्या का वे ही अनुकरण करेंगे और उसके आदर्श के वे ही कायल होंगे।

स्त्रीत्व क्या है? पुरुषत्व क्या है? इसकी मीमांसा करने वाले, अर्थात् स्त्रीत्व और पुरुषत्व का ज्ञान करने वाले सर्व प्रथम भारतभूमि में उत्पन्न ऋषि और महर्षि लोग ही हुए हैं। जिस योरप की सभ्यता का आज नवीन शिक्षित भारतीय समाज अनुकरण कर रहा है, उसी योरप के पूर्व निवासी विद्वान् लोग स्त्रियों में जीवात्मा का अस्तित्व ही स्वीकार न करते थे।

केवल यह ही बात नहीं है कि भारतीय पुरुषों ने ही स्त्रीत्व और पुरुषत्व का ज्ञानानुभव किया था, प्रत्युत इस रहस्य को भेदने में यहाँ की स्त्रियाँ भी सर्व-श्रेष्ठ रही हैं। प्रमाण स्वरूप वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और गार्गी तथा मैत्रेयि का संवाद—जिसने जनक की सभा को सुशोभित किया

था, पर्याप्त है। परन्तु यह स्त्री और पुरुष साधु थे, धुरन्धर तत्त्ववेत्ता थे। यह महान् दार्शनिक और उस समय के मानवीय समाज के अग्रगण्य नेता थे। उनका कर्तव्य था जीव-मात्र पर दया करना। उनकी सम्पूर्ण विश्व से मैत्री थी। वे अपना ही नहीं सम्पूर्ण संसार का कल्याण चाहते थे। समस्त जगत् उनमें वसा था। प्रयोजन यह, कि उनका ध्यान जगत् के सम्पूर्ण भागों पर था।

इन उपर्युक्त वचनों का जिन्हें साक्षात् करना है, उन्हें उत्तम होगा कि वे भारतीय धर्मशास्त्रों का अध्ययन निश्छल भाव एवं पक्षपात रहित होकर करें। उन्हें निश्चय ही कुछ प्राप्त होगा। वे संसार के समक्ष कुछ लेकर आवेंगे। परन्तु जिनके विचार ही उच्छृङ्खल और पश्चिमीय सभ्यता में परिपक्व एवं पक्षपात पूर्ण हैं, उन्हें कुछ हाथ न लगेगा। इसलिये कि उनका हृदय ही जब पश्चिमीय वायु-मण्डल में तरंग ले रहा है, तो वे प्राचीन आदरणीय भारतीय सभ्यता के भविष्य-सम्बन्ध में विवेक ही कैसे कर सकेंगे? ऐसे लोगों का तो सुधारवादी होने की घोषणा करना ही व्यर्थ और अनर्गल प्रलाप है। मैंने देखा है, कि ऐसे लोगों को यदि धर्म-शास्त्रों में कुछ प्राप्त भी होता

है, तो यही, कि वह गत-युग तथा वर्तमान युग के यत्र-तत्र विद्यमान नर-पिशाचों की कृतियाँ होती हैं। जिन्हें वे आधुनिक संसार के समक्ष रखकर सुधार की ओर बढ़ती हुई भारत की वर्तमान परिस्थिति को एक भयंकर तूफ़ान में डाल देते हैं। जिससे सुधार-क्षेत्र में विभिन्न बाधायें उपस्थित हो जाती हैं। इसलिये ऐसी धारणा वाले लोग भारत के सुधारक होने का गौरव मेरी समझ में तो प्राप्त नहीं कर सकते। स्मृतियों में यत्र-तत्र प्रेषित प्रक्षिप्तों के सहारे प्राचीन आदरणीय भारतीय सभ्यता के व्यवस्थापकों को, अथवा भारतीय ऋषि-मुनियों को या विद्वान् पंडितों को कलंकित करना, तनिक अनुचित प्रतीत होता है। ऐसे लोग शिष्टता एवं सभ्यता को धारण करने वालों में से नहीं हैं। प्रत्युत्त वे शोहरत की सनक में सनक जाने वाले अस्थिर हृदय के और विचार-शून्यता के कारण भारत को उसके अहित की ओर ढकेलने वाले हैं।

आजकल प्राय: भारतवर्षीय मानव-समाज में मुझे ऐसे लोग भी मिलते हैं, जो मेरी उपर्युक्त धारणा को संकुचित अथवा संकीर्ण कहने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि ऐसे लोग पश्चिमीय सभ्यता के हिमायती नहीं हैं, परन्तु फिर भी वे वेद और धर्म-

शास्त्रों के सम्मुख नत-मस्तक होना स्वीकार नहीं करते। वे इसकी उत्तमता के कायल नहीं हैं। वे उसे मानवीय सभ्यता का सम्पादन करने वाला स्वीकार नहीं करते। वे यह नहीं स्वीकार करते, कि भारतीय धर्म-शास्त्र इस युग के लिये उपयुक्त होंगे। ऐसे लोगों से मैं पूछूँगा, कि संकीर्णता किसे कहते हैं ? फिर क्या धर्म (कर्तव्य) शास्त्रों (युक्ति युक्त विचारों) की अवहेलना करना ही संकीर्णता से पृथक् होना है ? क्या सच-मुच वे संकोच विहीन हैं, जो किसी युक्ति-युक्त विचार की उपेक्षा करते हैं ? मेरी दृष्टि में ऐसी धारणाएँ हमारी धारणाओं को संकुचित सिद्ध करने में समर्थ सिद्ध नहीं हैं। सत्यता-रूपी धर्म-शास्त्रों के प्रचण्ड प्रकाश से फैली स्वर्ण-आभा को ठुकरा कर, मेरी दृष्टि में ऐसे लोग निश्चय ही नेत्र होते हुए नेत्र-विहीन बनने का अपने हाथों यत्न कर रहे हैं। अपनी इन धारणाओं और प्रयत्नों से अपने आपको भयंकर गढ़े में गिरा रहे हैं।

प्रायः सभी लोग जानते हैं, कि यह युग वैज्ञानिक युग है। इस युग में अनेकानेक ऐसे नवीन आविष्कार हुए हैं, जो विभिन्न रोगों को रासायनिक प्रयोगों से दूर कर सकते हैं।

किन्तु फिर भी वह समय अभी बहुत दूर है, जब कि सर्व-साधारण तक इसकी पहुँच हो सके। इसलिये उन राजनियमों की उपेक्षा करना बुद्धिमत्ता नहीं, जिनकी सृष्टि ही सर्व साधारण को दृष्टि में रख कर हुई है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक विचारशील पुरुष को स्मृति और शास्त्रों की ओर दृष्टि फेरते हुए सर्व-साधारण तक को अपने ध्यान में रखना चाहिये। जो लोग सर्व-साधारण तक को ध्यान में नहीं रखते, वे अदूरदर्शी हैं। उन्हें केवल बकवाद करने का प्रमाद लग गया है। उनकी ऐसी बातें संसार के किसी समझदार पुरुष के समक्ष अपना महत्व नहीं रखतीं।

स्त्रियाँ कौन हैं? पुरुषों के बीच इनका क्या अधिकार है? इसको हम अगले अध्यायों में ही भली भाँति बतलावेंगे। परन्तु यह कहने में मुझे किंचित् संकोच नहीं, कि भारतीय पुरुष-समाज स्त्रियों के लिये इस प्रश्न के उत्तर में जो शब्द आज से बहुत काल पूर्व व्यक्त करता था, जब कि भारत उन्नति के शिखर पर चढ़ा था, उसी शब्द को आज भी उनके संकेत में व्यक्त करता है, जब कि वह अवनति के एक घोर गढ़े में गिरा हुआ है। क्या यह भारत के आदर्श का चित्रण होना नहीं है,

का विधाता दयानन्द, उसे पाठय-ग्रन्थों की श्रेणी में रख गया है। इसलिये अवश्यमेव विचार करना चाहिए और देखना चाहिए, कि मनु ने जो बातें लिखी हैं, वह स्त्री और पुरुष सम्बन्धी अधिकारों के बीच कहाँ तक उपयोगी सिद्ध होती हैं।

स्त्रियाँ कौन हैं ?

जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ।

—मनु० ९—८

"विष्णु का 'लक्ष्मी-पति' नाम प्रसिद्ध ही है । महादेव को हम पार्वती-पति के नाम से पूजते हैं; महाभारतकार ने द्रौपदी को और आदि कवि वाल्मीकि ने सीता जी को गौरव-पूर्ण स्थान दिया ही है; हम प्रातःकाल सतियों का नाम लेकर पवित्र होते हैं । जो सभ्यता इतनी उच्च है, उसमें स्त्रियों का दर्जा पशु या मिल्कियत के समान कदापि हो नहीं सकता ।"

—महात्मा गांधी

वह सचमुच एक विचित्र सत्ता है । जिसको देख कर नव-विकसित युवक-हृदय स्वभावतः उछल पड़ता है । जिसके सम्पर्क में रमण कर उसके सुख की सीमा नहीं रहती । वह उसके आनन्द और कौतूहल की सामग्री, धर्म-कर्म का साधन

हृदय मंदिर की देवी और वामपार्श्व-रक्षिका है। वह जब रोता है और सिसकियाँ भरता है, वह भी रो पड़ती है। उसके आँसुओं से अपने आँसुओं को मिला देती है। वह जब घबराता है, वह धैर्य बँधाती है। वह जब मुस्कराता है, वह हँस पड़ती है। वह जब हँसता है, वह अट्टहास कर उठती है। वह जब धनोपार्जन की तैयारी करता है, वह क्षुधा निवृत्ति के प्रयोजनार्थ अमृत सदृश सुन्दर मीठे आनन्दकारी अलभ्य पकवान प्रस्तुत करती है। शीतल जल देती है। वह जब संतान निग्रह की सोचता है, वह सहयोग कर बैठती है। सारांश यह कि वह पुरुष के प्रत्येक कार्यों में समान रूप से भाग लेने में सदैव तैयार रहती है। इसीलिये वह अर्द्धाङ्गिनी संज्ञा से अपने को संबोधित कराती है? यद्यपि उसकी ऐसी कोई अभिलाषा नहीं कि संसार उसे अर्द्धांगिनी कहे। परन्तु संसार को अधिकार क्या कि वह उसको उसके जन्मगत स्वभाव और पद से वंचित कर सके।

केवल यही बात नहीं है कि आप उसे देख कर उसकी ओर खिंच पड़ते हों। वह भी आपको देखकर आपकी ओर आकर्षित होती है। उसका भी हृदय मंदिर आपको देखकर

हर्षनाद कर उठता है। आप भी उसके कौतूहल की सामग्री हैं। आप भी उसके धर्म कर्म के साधन हैं। उसके इच्छित देवता हैं। वह आपकी पूजा करती है और आपको अपनी दाईं ओर बिठाकर आपकी सदैव शुभकामना करती है। परन्तु क्या आपने कभी उसे अधीर देखकर धैर्य बँधाया ? वह जब रोई है तो आपने भी अपने आँसू बहाये हैं ? क्या आपने उसकी शुभकामना में कुछ समय दिया है ? यदि नहीं तो उससे सीख लो। ऊपर के श्लोकार्ध में मनु यही तो कहते हैं कि वह ऐसी अद्भुत शक्ति है कि भाव का अभाव हो जाने पर उससे पुनः भाव की सृष्टि होती है।

सचमुच यदि भारत कुटिल बन गया था तो बन जाने दो। यदि यहाँ से धर्म और दया दूर जा बसे थे तो जा बसने दो। सदाचार को भारतीय तिलांजलि दे चुके थे तो दे देने दो। भारत से वह शक्ति नहीं दूर गई जिसका स्वभाव है अभाव से भाव करना। वह सदैव समर्थ है। वह निश्चय ही एक अद्भुत शक्ति है। ऋषि, मुनि, गृहस्थ, और ब्रह्मचारी सभी उसकी अभ्यर्थना करते हैं। उसकी सुरक्षित मर्यादा में अपने को गौरवशाली समझते हैं।

तनिक आप सोचें जिस वस्तु से आपको अगाध प्रेम है और जिस पर आपकी अटूट श्रद्धा है। वह आपके मानस मंदिर की देवी नहीं तो क्या है? वही तो आपका धर्म, आपका कर्म, आपकी चिरसंगिनी, आपका आहार, आपके प्राण और आपकी प्रतिभा है, वही आपकी मर्यादा और आपकी ज्योति है, प्रयोजन यह कि जिस ओर आपकी दृष्टि जाती है उधर ही वह आपको आपकी होकर दृष्टिगत हो रही है। फिर आप कैसे न उसकी पूजा अर्चना करते? उसकी आवश्यकता के आप फिर कैसे न साधन बनते? उसकी रक्षा में आप अपने आपको क्यों न अर्पण करते? उसकी सहायता के निमित्त आप कैसे न अपने आपको बलिदान करते? तनिक विश्व की ओर दृष्टिपात तो करो। देखोगे! और निश्चय ही देखोगे!! तुम्हें समस्त विश्व में यही सिद्धान्त और यही विचार एक असाधारण रूप से व्यापक दिखाई देगा।

संसार के अधिकांश प्राणी अपनी रक्षा के लिये ही पुरुषार्थ करते हैं। उद्यम करते हैं। अपने आपको उद्यमी और पुरुषार्थी सिद्ध करने के लिये ही नाना आपत्तियाँ और संकटें झेलते हैं। अपने प्राणों की रक्षा में अनेकों मुसीबतें उठाते हैं। अपने अङ्गों

को हरा भरा बनाये रखने के लिये ही वे कठिन से कठिन उपाय का अवलंबन करते हैं। फिर ऐसी दशा में जब कि पत्नी, पति का प्राण, पति का धन और मर्यादा यहाँ तक कि वह सर्वस्व है तो शास्त्रकार क्यों न संकेत करते ? वे क्यों न आदेश करते ?

सम्मान ! सम्मान (सम्+मान) संसार में एक बड़े महत्त्व की वस्तु है। वह विरोध को दूर भगाकर ऐक्य भाव का संपादन करता है। वह शत्रु को मित्र बना देता है। वह मनुष्य का गुरु, उसका गौरव, उसकी कीर्ति पताका, उसका धन, उसका अक्षय-भंडार है। यदि चाहो अपने नैत्यिक जीवन में इसकी परीक्षा करके देख लो। उदाहरण के लिये भी संसार में तुम्हें पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होगी। जिसका सम्मान करोगे वह तुम्हारा बड़ा कृतज्ञ होगा। सम्मान की रक्षा के लिये मनुष्य क्या नहीं करता ? वह इसके लिये गहरे से गहरे और अथाह समुद्र में भी कूदने को तैयार रहता है।

पत्नी, पति की कौन है ? इसकी विवेचना करने की आवश्यकता नहीं रही। हम ऊपर बता आये हैं "पत्नी", पति की मर्यादा है। वह उसका कोष, धन, भंडार, धर्म, कर्म सब ही कुछ है। फिर जब कि वे गार्हस्थ्य-रूपी मानवीय शरीर की

दो भुजाओं के सदृश परस्पर मित्र होते हुए भी एक हैं तो मनु का पुरुषों के लिये यह उपदेश करना क्यों न अनिवार्य होता। वे पुरुषों को कर्तव्य परायण बनाने के निमित्त ही तो लिखते हैं। उनके भाव अपना आदर्श और अपनी महत्ता रखते हैं:—

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वां च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति॥

मनु० ९—७

अपनी संतान, अपना चरित्र, अपना कुल, अपनी आत्मा अपना धर्म तथा अपनी स्त्री इन सब की रक्षा करने (सम्मान सहित रखने या बर्तने) वाला ही संसार में सम्मान पाता है।

आजकल हमारे बहुत से भाई ऐसे भी पाये जाते हैं, जिन्हें इससे बिलकुल चिढ़ है। वे 'स्त्री की रक्षा' पुरुष के द्वारा सुन कर आग बबूला हो उठते हैं। वे कह बैठते हैं कि स्त्री अपनी रक्षा अपने आप कर लेगी आपको उसका हिमायती होने का कोई अधिकार नहीं।

उनके यह शब्द मेरे समीप उचित नहीं। संसार में देखा

जाता है कि प्रत्येक प्राणी अपनी प्रिय वस्तु को सुरक्षित रखने के लिये बड़ा से बड़ा प्रयत्न करता है। स्त्री पुरुष की मित्र है, और पुरुष स्त्री का मित्र है। वह उस पर आधिपत्य रखती है और वह उस पर। फिर एक दूसरे की रक्षा के हिमायती क्यों न हों ? जब कि आरम्भ में वे दोनों एक दूसरे की रक्षा करने की प्रतिज्ञा करके ही इस गृहस्थी रूपी गाड़ी के "वाहन" बने हैं। फिर पुरुष के हृदय से इस भाव को दूर कराना क्या उसकी प्रतिज्ञा भङ्ग कराना नहीं है ?

'रक्षा' शब्द इन स्त्रियों की सहायता करने और उनके विचारों को अपने अनुकूल बनाये रखने के लिये है। मनु इस रक्षा शब्द की ओट में स्त्रियों के लिये हृदय में आदर का स्थान रखते हैं न कि उनका प्रयोजन अपमान करने का है। वे यह नहीं कहते कि इनको भेड़ बकरियों की भाँति रस्सी से बाँध कर रक्खो। यदि यही बात होती तो उनके इन शब्दों का क्या आशय लिया जायगा। यथा:—

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्तिकश्चन ॥

मनु० ९—२६

सन्तानोत्पत्ति का कारण, महाभाग्यवान् पूजने योग्य, गृह को प्रकाशित करने वाली स्त्रियों में और श्री (लक्ष्मी) में कोई भी अन्तर नहीं कहा जाता।

यही नहीं वे आगे और लिखते हैं:—

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥

मनु० ९—२७—२८

उत्पन्न करना और पालना तथा प्रतिदिन (अतिथि तथा मित्रों के) भोजनादि लोकाचार का प्रत्यक्ष आधार (अर्थात् जिसने संसार यात्रा को सुगम बनाने के लिये गृह की व्यवस्था का भार उठाया है) स्त्री है। सन्तानोत्पादन, धर्म कार्य (नैत्यिक मानुषिक जीवन), नैत्यिक जीवन में सुविधा देना, उत्तम रीति तथा पितरों (वृद्ध माता-पिता, पितामह गुरुजन आदि) का और अपना स्वर्ग (सुख) यह सब भार्या अर्थात् जिसने भर्त्ता को धारण किया है। उसके

आधीन है। इसलिये इनकी रक्षा करो ताकि तुम्हारे लिये वे सभी सुविधायें सुगम कर सकने में समर्थ हों।

मनु के उपर्युक्त 'रक्षा' शब्द के प्रयोग करने पर आजकल के मनुष्यों की यह धारणा बन चली है कि मनु ने इस रक्षा शब्द की ओट में स्त्रियों को परतन्त्र कर दिया है! वरन् पौराणिक संसार ऐसा आशय लेता भी है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। प्रत्युत मनु ने 'रक्षा' शब्द को लिखकर उनकी शक्ति वृद्धि के हेतु सामान संचित किया है, जिसका प्रयोजन है—स्त्रियाँ जब पुरुषों को सुविधा देती हैं तो पुरुषों का भी कर्तव्य होना चाहिये कि वे स्त्रियों को सुविधा दें।

हम यह जानते हैं, प्रत्युत देखते भी हैं कि भारतवर्ष बहुत काल से शोहरत का पुजारी रहा है। यद्यपि यहाँ के नैयायिकों ने अथवा शास्त्र-वेत्ताओं ने बड़े दूरदर्शी विचार इनके समक्ष प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उपयोग-शैली का अनुकरण भली-भांति न कर सकने के कारण इस सम्बन्ध में इनका क्षेत्र धर्म-शास्त्रों से परे ही नहीं बिल्कुल उल्टा हो पड़ा। जिसके परिणाम स्वरूप उनके समक्ष नाना आपत्तियाँ आ उपस्थित हुईं।

आज भी इसकी वही दशा है। यहाँ के बूढ़ों की ओर

यदि आप दृष्टि डालेंगे तो आप देखेंगे कि वे अपने आपको केवल प्रथा का गुलाम बनाये बैठे हैं। उनका धर्म, उनका कर्म, उनकी उपासना, और उनकी प्रार्थना सभी आपको एक निरी ढोंग के सदृश प्रतीत होगी। केवल इनके भिन्न-भिन्न नदियों के स्नान और तीर्थ स्थानों की यात्राओं में ही पुण्य लाभ की कल्पना भरी पड़ी है। यही नहीं, वे अपने इन प्रयत्नों में मुक्ति तक का स्वप्न देखते हैं।

आधुनिक नवयुवकों के सम्बन्ध में क्या कहना। इनको तो पश्चिमीय विचार-धारा और व्यवहार में जो आनन्द मिल रहा है। उसकी तुलना यदि की जा सकती है तो बस, वह इनके बूढ़े पाखंडी और अंधविश्वासी वयोवृद्ध माता-पिताओं से ही। न वे पश्चिमीय रीत्यानुसार प्रचलित व्यवहारों और समानाधिकारों का भेदन कर सके हैं और न वे अपने दुर्दान्त रूढ़िवादी विचार की कृतघ्नता का परिचय पा सके हैं। दोनों दो गढ़े में गिरे हुये निश्चय ही एक मंडूक की योनि को प्राप्त हुए के तुल्य हैं। प्राचीन आदरणीय भारतीय सभ्यता को न वे समझ सके हैं न वे।

स्त्री और पुरुष में परस्पर एक दूसरे को खींचने की शक्ति

है। परन्तु प्रायः देखने में आता है कि स्त्रियों का पुरुषों की ओर अधिक खिंचने की अपेक्षा पुरुष स्त्रियों की ओर अधिक खिंचा करते हैं। यही कारण है कि इन्होंने स्त्रियों पर अपनी कलुषित भावनाओं की प्रेरणा से बलातकार किया है। वह इसलिये कि स्त्रियाँ शारीरिक बल में पुरुषों की अपेक्षा प्रायः कमजोर होती हैं।

लोगों का कहना है कि यदि स्त्रियां गर्भ न धारण करें तो वे शक्ति में पुरुषों के समान रह सकती हैं। परन्तु यदि पुरुष भी इसी प्रकार स्त्रियों का संपर्क न करके और ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करें तो क्या उनकी शक्ति गार्हस्थिक जीवन की अपेक्षा अधिक न होगी? इसलिये यह कहना असंगत है कि स्त्रियाँ पुरुषों के समान शक्तिवाली हो सकती हैं। जो गुण पुरुषों में मौजूद हैं वह स्त्रियों में नहीं हैं और जो स्त्रियों में हैं वह पुरुषों में नहीं हैं। इन्हीं कतिपय भिन्नता को दृष्टि में रखकर बेल-जियम की रानी इलेजवेथ ने स्त्री पुरुषों की समता का निषेध किया है। हाँ! प्राचीन आदरणीय भारतीय सभ्यता स्त्री पुरुष की समता का जो रूप विभक्त करती है वह अवश्य माननीय है। प्रयोजन यह कि वे अपने अपने स्वाभाविक कर्त्तव्य कर्मों

में उन्नति कर सकने के अधिकारी हैं। उन्हें रोकने वाला कोई नहीं।

प्राणि-शास्त्र जीवों के जिस प्रकार दो भेद माने गये हैं। अर्थात् अनुलोम परिणामी में निर्माण क्रिया तत्पर शक्ति है और प्रतिलोम परिणामी में विध्वंसकारी बल (पौरुष अथवा वीर्य) होता है। विध्वंस सदैव रचना के बाद हुआ करता है। इसलिये पहला नम्बर स्त्रियों का है। इसी आधार पर उदाहरणार्थ भारतीयों ने पुरुषों से पहले अथवा 'राम' से पहले सीता को स्थान दिया है अर्थात् पुकारा है। इसी को मनु भी अपने शब्दों में स्पष्ट करते हैं जो आरम्भ में दिये गये श्लोकार्थ से प्रकट है।

भारतीय ऋषियों ने गृहिणी का जो स्वरूप निर्धारित किया है वह धार्मिक-क्षेत्र में स्थान रखता है। पाश्चात्य धारणानुसार तो स्त्री पुरुष का सम्बन्ध केवल काम-पिपासा की शान्ति का साधन है। किन्तु प्राचीन आदरणीय भारतीय सभ्यता में गार्हस्थिक-जीवन काम-पिपासा की शान्ति का द्योतक किसी प्रकार भी नहीं है। यह धार्मिक-जीवन है। इसको पूर्ण करने में कठिनाइयाँ है। इसीलिये तो आधुनिक शिक्षित समाज को यह दुःखदायी प्रतीत होती हैं।

भारतीय स्त्रियाँ बराबर स्वतंत्र हैं। जहां तक उनकी की की गई प्रतिज्ञा के उल्लंघन का भय न हो। इसीलिये तो उन्होंने पुरुषों को आदेश किया है कि:—

अरक्षिता गृहे रुद्धा पुरुषैः एस कारिभिः।
आत्मानमात्माना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः॥

मनु ९—१२

अर्थात् समझदार पुरुषो! तुम्हारे द्वारा घर में रोकी गईं स्त्रियाँ अरक्षित हैं। सुरक्षित वे ही हैं जो अपनी आत्मशक्ति की प्रेरणा से अपनी रक्षा कर सकने में सामर्थ्यवान् हैं।

निसंदेह भारतीय समाज में बुराइयाँ आ गई थीं। इन पुरुषों ने इनको घर में ठूँस ठूँस कर इनका स्वास्थ्य बिगाड़ डाला है। इनका हृदय बिलकुल बेकाम हो चुका है। यह डरपोक बन चुकी थीं। बात बात पर भय खाने वाली हो चुकी थीं। निरक्षर भट्टाचार्यो की उपाधि को विभूषित कर चुकी थीं। न इन्हें विद्या पढ़ाई जाती थी न बुद्धि प्रदान की जाती थी। परन्तु साथ ही आश्चर्य तो यह है कि यह सब कुछ जो भारतीयों ने स्त्रियों के संग किये धर्मशास्त्रों के नाम पर। आधुनिक नवयुवक

समाज इसीलिये तो घबराते हैं और अपनी क्षणिक जोशीली प्रकृति के सहारे धर्म-शास्त्रों का तिरस्कार कर बैठते हैं। वे धर्म-शास्त्रों की छान बीन नहीं करते। आगे मनु ने फिर दुहरा दिया है कि:—

नकश्चिद्योषिता शक्तः प्र सह्यपरिरक्षितुम।
एतैरुपाय योगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम॥

मनु० ९—९

स्त्रियों की रक्षा करने के सम्बन्ध में कहीं यह न समझना कि इनकी रक्षा शक्ति से बाँध कर होगी। प्रत्युत इनकी रक्षा अच्छे प्रकार इनकी सहायता करने से होगी।

आपने देखा कि मनु स्वयं घर के अन्दर ठूँस कर रखने के विरोधी हैं, वे स्वयं कहते हैं कि इन्हें स्वतंत्र परदे से दूर रक्खो। परन्तु इनके द्वारा व्यक्त की गई स्वतंत्रता का रूप यही है कि वे प्रत्येक धर्म कार्यों के लिये (जो उनकी आवश्यकता के प्रयोजन में है) बाहर आ जा सकती हैं।

स्त्री पुरुष का जीवन एक समझौते का जीवन है। रथ भी सदैव दो चक्कों के सहारे ही चला करता है। इसी प्रकार एक गृहस्थी के अन्तर्गत दो प्राणी स्त्री-पुरुष स्थित किये गये हैं। जो

संसार यात्रा के एक-एक भाग का अधिकार ग्रहण कर अथवा एक-एक भाग का भार उठाकर दौड़ रहे हैं।

पुरुष, "पुरुष" क्यों कहलाया ? इस पर अब विचार करने की आवश्यकता नहीं। यह आगे बतलाया जा चुका है कि वह प्रतिलोम परिणामी है। उसमें बल है। उसमें पौरुष है। पुरुषार्थ करना उसके जीवन का एक मात्र लक्ष है। स्त्रियाँ उसके पुरुपार्थ से लाभ उठाती हैं। संतान वाली बनती हैं। धन-धान्य वाली बनती हैं। उन्हें उस पुरुष की ही सहायता से सुख और ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

स्त्रियों में "स्त्रीत्व" का क्या प्रयोजन ? इस पर भी विचार करनें की अब आवश्यकता नहीं। इसलिये कि इस संबंध में बहुत कुछ विचार किया जा चुका है। यह अनुलोम परिणामी हैं। इनमें निर्माण किया तत्पर शक्ति है। इनमें अभाव से भाव करने का स्वभाव है। दिन भर के परिश्रम से थके हुए पुरुष के थकावट को हरण करने की शक्ति है। इनमें मातृत्व की योग्यता है। इनमें पालन करने का गुण है। इन्हीं सब उपलक्षणों को निरीक्षण करके ही प्राचीन आदरणीय भारतीय सभ्यता के तत्वबोधकों ने इनके निमित्त यह योजना की:—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचेऽधर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥

मनु० ९—११

इनको धन का संग्रह कार्य (अर्थात् पुरुष जो कुछ उपार्जन करके ले आवें उसको एकत्र करें) और इनको यथोचित रीति से व्यय करने का अधिकार, (धर्म-पूर्वक रीति से व्यय करने का अधिकार) धर्म-पूर्वक रहने और भोजनादि की व्यवस्था करने की समस्या में नियुक्त कर दे।

यहाँ पर मनु ने "व्ययेचैव नियोजयेत" लिख कर अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है—"घर की व्यवस्था" के निमित्त स्त्रियों का सर्वत्र निर्भयता से आना जाना हो सकता है। इसे स्वामी दयानन्द ने भी अपने सत्यार्थ प्रकाश में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं कि—"सब प्रकार की शिक्षा प्राप्त स्त्री ही घर के सब कार्यों को जैसा चाहिये वैसा करना-कराना, वैद्य-विद्या से औषधवत् अन्न-पान बनाना और बनवाना कर सकती है। जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें। शिल्प-विद्या जानने वाली स्त्री ही घर का बनवाना,

वस्त्र आभूषण आदि का बनाना-बनवाना, जान सकती है। गणित विद्या को जानने वाली स्त्री ही घर के सब कार्यों में व्यय हुए का हिसाब रख सकती है।" इससे उपर्युक्त हमारे विचारों की पुष्टि होती है। क्योंकि भवन-निर्माण कार्य की सफलता बिना बाहर आये गये असंभव है। अस्तु, यह बात सत्य है कि विद्वान् और समझदार स्त्री, व्यायाम-शील महिला, समय और परिस्थिति से विज्ञ माता जैसा उत्तम सन्तान उत्पन्न कर सकेगी वैसा घर के अन्दर ठूँस कर रक्खी गई रोगिणी मूर्खा स्त्री नहीं उत्पन्न कर सकेगी। न उससे पति प्रसन्न रहेगा न उसे प्रसन्न कर ही सकेगा। वे दोनों सदैव एक दूसरे के प्राणों के घातक रहेंगे।

भारत में कहीं कहीं स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर अनबन की समस्या क्यों व्याप्त है वह इसीलिये कि यहां के रूढ़िवादी समाज के पुरुष विशेष तथा उनके अंधे माता-पिता उनके उत्तरदायित्व को समझने से पहले ही इस धार्मिक और कठोर कूप का मंडूक बना देते हैं।

योरोप की ओर यदि आप दृष्टि डालेंगे तो देखेंगे कि वहाँ रोज सम्बन्ध विच्छेद होता है। उसका कारण यह है कि वहाँ

विवाह धार्मिक बन्धन नहीं माना जाता। वहाँ के प्राणी स्वातंत्र्य-विचार की धारा में तैर रहे हैं।

प्रकृति इस संसार रूपी नदी में पानी का एक प्रबल प्रवाह है, इसलिये चतुर तैराक ही इस संसार रूपी नदी को बिना किसी विघ्न-बाधा के पार कर सकता है। जो चतुर नहीं हैं, वे डूबते हैं और उतरा पड़ते हैं। इसलिये कौन कह सकता है कि प्राचीन आदरणीय भारतीय-सभ्यता के विधायक चतुर-तैराक नहीं थे ? जिनके निर्धारित दाम्पत्य में आदर्श की छटा, सदाचार का प्रबल प्रकाश और सामान्याधिकार की धवल-ज्योति चमकती है।

स्त्रियों के अधिकार

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतंनाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥

मनु ५—१५५

"सहोभौ चरतां धर्म", यह उपदेश विवाह के समय वर-वधू को दिया जाता था, भारतवर्ष की पुरानी मर्यादा में। "पत्नी" का दूसरा नाम "सहधर्मिणी" था। दोनों, साथ साथ, धर्म का, कुलजनों के प्रति, संतान के प्रति, समाज के प्रति, कर्त्तव्य का पालन करें, इस धर्माचरण में एक दूसरे की सदा सहायता करें, क्योंकि बिना ऐसी परस्पर सहायता के उस सब धर्म का पालन अकेले से हो नहीं सकता, इसलिये विवाह होता था—धर्म के लिये न केवल काम के लिये—यह पुराना आदर्श इस देश का है।"

—डा० भगवानदास

स्त्री और पुरुष संसार की दो अद्भुत शक्तियों के नाम हैं। इन दोनों में दो भिन्न-भिन्न गुण एक विशेष-विशेष प्रकार से पाये जाते हैं। जैसे पुरुष "पुरुषत्व" अर्थात् बल-वीर्य से

युक्त है और स्त्री, "स्त्रीत्व" अर्थात् मातृत्व शक्ति से युक्त है। इस प्रकार ये दोनों इन दो विशेष प्रकार के गुणों को प्राकृतिक रूप से ही प्राप्त करने के जन्म-सिद्ध अधिकारी हैं। परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध हो जाता कि पुरुष पालन-पोषण की क्रिया से सर्वथा हीन है। वह उन कार्यों को प्रयत्न करने पर सहज ही करता हुआ पाया जाता है जो माताओं को स्वभावतः प्राप्त है। इस प्रकार स्त्रियाँ भी उन कार्यों को सहज ही करती देखी जाती हैं जो पुरुषों को स्वभावतः प्राप्त है। यहीं तक नहीं, स्त्रियाँ बड़े से बड़ा भयंकर संग्राम और बड़े से बड़ा राज्य को, सुगमता से संचालित कर सकती हैं और करती देखी गई हैं। इस दशा में यह कहना कि स्त्रियाँ पुरुषों के समान कर्मों को नहीं कर सकतीं अपनी एक बड़ी भूल को प्रदर्शित करना है।

यह विश्व-विदित बात है कि वैदिक काल की स्त्रियाँ सर्वथा स्वतंत्र थीं। वे बलवती, साहसी, निपुण विदुषी और पंडिता होती थीं। वे वेद-मंत्र द्रष्टा होती थीं। वे बड़े से बड़ा यज्ञ को सफल-पूर्वक करती थीं। वे पुरुषों की सभाओं में निर्भीकता से सम्मिलित होती थीं। उनसे शास्त्रार्थ करतीं और अपने अपूर्व पांडित्य के बल पर उन्हें शास्त्रार्थ में परास्त करती थीं।

केवल यही बात नहीं, उस समय स्त्रियों की मर्यादा को एक विशेष रूप से सुरक्षित रखने का नियम था। माता-पिता बाल्यावस्था में उनकी शिक्षा-दीक्षा का एक विशेष प्रकार से प्रबन्ध करते थे। जिससे वे बाल्यावस्था में उत्कृष्ट मार्ग को ग्रहण कर सकें। युवावस्था में पति उनको विशेष प्रकार से सहयोग देते थे। जिससे वे अपनी उन्नति करती हुई संसार क्षेत्र में आनन्द-पूर्वक विचरण करती थीं। पति के न रहने पर अथवा वृद्धावस्था में उनकी आवश्यकता की पूर्ति करने के निमित्त सामग्री संकलित करने का भार पुत्रों पर था। इसका परिचय निम्न श्लोक से मिलता है:—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्तिस्थाविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्य मर्हति॥

मनु० ९—३

मनु ने इन उपर्युक्त पंक्तियों के अन्तर्गत संक्षिप्त रीति से यह बतलाया था कि मानवीय समाज में स्त्रियों का क्या स्थान होना चाहिये तथा पिता, पति और पुत्रों का उनके

हैं। परन्तु वर्तमान समय में स्त्रियों की सामाजिक दुरावस्था का चित्र चित्रण कर प्राचीन-काल की यह सब बातें स्वप्नवत् प्रतीत होती हैं। हृदय काँप उठता है। वाणी मूक हो जाती है। भाल ठोंक कर यदि उनकी इस दुरावस्था के कारण की ओर दृष्टि डाली जाती है तो बहुतेरों का यह कथन है कि "प्राचीन-काल के पश्चात् जब मध्य-काल आया है तो उसमें समाज का रूप परिवर्तित किया गया है। उस समय जो ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें स्त्रियों की मनुष्यता तक का ध्यान छोड़ दिया गया है। समानता की कौन कहे ?"

मध्य-काल में कौन ग्रंथ लिखे गये ? इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। विद्वानों में इस विषय में मतभेद भी है। हां ! यह बात अवश्य ही सहज में स्वीकार की जा सकती है कि मध्य-काल में सामाजिक व्यवस्था का बहुत कुछ व्यवहारिक रूप से परिवर्तन हुआ है। उसी समय से स्त्रियों के अधिकारों का भी पतन प्रारंभ हुआ है।

ऐसे लोगों का कथन है कि मध्य-काल में स्मृतियों की रचना हुई है। इसमें मनुस्मृति आज भी प्रधान मानी जाती है। इस पर बहुतेरों का आक्षेप भी है। अतः इस विवाद को

सामने रख कर जब मैं विचार करने बैठा तो पता लगा कि मनु प्राचीनकाल की पद्धति को ही स्वीकार करते हैं। वे अपनी एक पंक्ति में वेद की दुहाई देते हुए कहते हैं:—

या वेद बाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता प्रेत्य तमोनिष्ठाः हिताः स्मृताः॥

मनु० ५—९५॥

पता लगा कि जितने वेद के विरुद्ध वचन हैं वे सब निष्फल हैं। अतः इस आधार पर यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि मनुस्मृति के अंतर्गत जितने भी श्लोक आये हैं सभी मनुकृत हैं। जो व्यक्ति वेद विरुद्ध वचनों का स्वयं अपने शब्दों में तिरस्कार करता है वह वेद विरुद्ध वचन लिखने का कदापि साहस न करेगा।

वर्तमान समय में स्त्रियों के अधिकार की चर्चा करते हुए हमारे बहुतेरे भाई बहिन मनु पर कीच उछालते देखे जाते हैं। उनके विपरीत भयंकर-अग्नि उगलने का साहस करते हैं। वे अपने कठोर बचनों की वर्षा कर चाहते हैं कि 'मनुस्मृति' को

भस्म कर दें। परन्तु 'सच्चे को आंच कहाँ' चन्द्रमा पर थूकने वाला अपने आप ही मलिन और गंदा होता है। यही दशा मनु को नंगा और लुच्चा कहने वालों की है। स्वर्ण जिस प्रकार अग्नि में फूँके जाने पर अपने असलीयत को और वखेर देता है यही दशा मनुशास्त्र की है।

लोगों का कथन है मनु ने स्त्रियों को पुरुषों की टहलनी अथवा दासी माना है। यहां तक कि इनके जीवन को नितान्त पशु तुल्य समझा गया है। दिन-रात पति की सेवा करना और पति की आधीनता में जीवन बिताना ही इनके ध्येय की इति मानी गई है।

लोगों का यह विचार कहाँ तक सत्य है। इसका निर्णय करने के लिये मनुस्मृति का गंभीरता-पूर्वक पारायण करना आवश्यक होगा। एक पंक्ति देख कर उछल पड़ना मूर्खता की निशानी है। जो व्यक्ति प्राचीन पद्धति को स्वीकार करता है। कैसे कहा जा सकता है कि वही व्यक्ति अपने वचनों और वेद की मर्यादा का उल्लंघन करना स्वीकार करेगा। मनु का स्त्रियों को पुरुषों की टहलिनी बनाने की कल्पना करना महान् भूल का द्योतक है। वे अवश्य ही गर्त में गिरे हुए हैं जिनकी

ऐसी अनोखी सूझ है। परन्तु यह असंभव नहीं कि जन-समाज मनु के जिन शब्दों का आशय टहलिनी लेता हो। मनु ने उसी शब्द को किसी और प्रयोजन को लेकर व्यक्त किया हो।

यह तो सिद्ध ही है कि स्त्रियाँ पुरुषों की अर्द्धाङ्गिनी हैं। मनु ने "अर्द्धेन नारी तस्यां" कह कर स्त्रियों को अर्द्धाङ्गिनी स्वीकार भी किया है। इसलिये ऐसा सिद्ध होता नहीं दीखता कि मनु ने स्त्रियों को पुरुषों की टहलनी स्वीकार किया हो। ऐसा गंदा आक्षेप करने वाले बतावें कि उन्होंने पुरुषों के कर्मों से स्त्रियों के कर्मों में कहाँ न्यूनता बताई है।

संसार में देखा जाता है—रथ का एक पहिया जब दौड़ना प्रारम्भ करता है तो दूसरा शीघ्र ही उसका अनुकरण करता है। यही नहीं, हम जब मार्ग तय करते हुए चलते हैं तो देखते हैं कि हमारा एक पैर पहले उठता है दूसरा शीघ्र ही उस पहले पैर का अनुकरण करता है। पता लगा कि गार्हस्थ्य-जीवन रूपी रथ में संयुक्त स्त्री-पुरुष-रूपी दोनों चक्रों में से एक की गति प्रथम होती है और दूसरा उसका अनुकरण करता है। अस्तु, अब यह निर्णय करना बाक़ी रहा कि मनुष्य के दोनों पैरों में

से प्रथम गति किसकी होती है, दाहिने पैर की अथवा बांयें पैर की। इस बात को जानने के लिये यदि हम प्रयत्न-शील होते हैं तो देखते हैं कि प्रथम दाहिने पैर की गति होती है, बाँया पैर उसका अनुकरण करता है। अतः इस स्थिति में मनु जब हम दोनों के कर्तव्यों का निर्देश करने चलेंगे। इन कतिपय भिन्नताओं को दृष्टि में अवश्य रक्खेंगे। मनु ने क्या किया है? यही जिसे मैं कह रहा हूँ। उन्होंने जहाँ कहीं स्त्रियों और पुरुषों में भेद दृष्टिगत किया है। स्त्रियों के लिये उस अंश को पृथक् लिख दिया है और पुरुषों के लिये पृथक्। जिस स्थल पर उन्हें भिन्नता नहीं दृष्टिगत हुई वहाँ दोनों पर समान दृष्टि रख कर उनके कर्तव्य का निर्देश किया है। लोगों ने समझा जितना मनु ने स्पष्ट रूप से स्त्रियों के लिये लिखा है बस, वही स्त्रियों के लिये है। अन्य नहीं। फिर क्या, ख्याल रूपी उन्माद ने उनके श्रीमुख से अनेकों अनर्गल प्रलाप नहीं कराये? कितनों ने मनुस्मृति पर हाथ ही साफ़ किया। प्रक्षिप्तों का ढेर लग गया। कहीं कहीं शब्द परिवर्तित कर पाठों में अन्तर कर दिया गया। इस पर भी अभी कहा जा सकता है कि अभी बहुत कुछ खैरियत है।

'मातृत्व' और 'पुरुषत्व' इन दोनों भेदों को छोड़ कर मनु ने अन्य स्थान पर स्त्री और पुरुषों में भेद नहीं माना है। न संसार में उत्कृष्ट-जनों के बीच यह माना ही जाता है। जिन अन्य कर्मों को पुरुष आसानी से कर लेता है, उन्हीं अन्य कर्मों को स्त्रियां भी आसानी से कर सकती हैं। मनु इसे स्वीकार करते हैं। ऊपर उद्धृत किये हुए ५—१५५ के श्लोक में इसकी स्पष्ट झलक है। वे कहते हैं—"नहीं है स्त्रियों का कोई पृथक् यज्ञ, न है कोई पृथक् व्रत और उपवास, पति को सेवित होना ही इनका कर्तव्य है। इसी से इनको स्वर्ग की प्राप्ति होगी।"

पति को सेवित होने से प्रयोजन पति को सहयोग देने से है। इस सहयोग देने वाली होने से ही तो स्त्रियाँ सहधर्मिणी कहलाती हैं। अन्यथा सहधर्मिणी शब्द को संयुक्त करने या उपाधि देने का स्त्रियों को प्रयोजन ही क्या था? पति को सहयोग देने में ही स्त्रियाँ सभी उन कृत्यों को करेंगी, जिन्हें पुरुष करता है। इनका कोई पृथक् यज्ञ नहीं। इनका यज्ञ वही है, जो पुरुषों का है। मनु पर वृथा आक्रमण करने वाले लोग देखें—मनु ने स्त्री और पुरुष के यज्ञ (कर्मों) में भेद नहीं

माना। यदि मानते तो लिख न देते कि पृथक् है। पति का अनुकरण करने की आज्ञा क्यों देते? अनुकरण करने की इसलिये आज्ञा दी कि एकता बनी रहे। ज़रा सोचो तो, यह कितनी ऊँची फिलासफी है। एक शरीर के दो पैर अलग अलग होते हुए भी एक ही हैं। बाँया पैर दाहिने पैर पर आश्रित है और दाहिना बाँयें पर। दाहिना यदि आगे नहीं बढ़ता तो बाँया कभी चलता ही नहीं इसी तरह बाँया नहीं चलता तो दाहिना भी नहीं आगे बढ़ता। इसलिये पता लगा कि दोनों में संगठन है। दोनों प्रतिज्ञा-बद्ध हैं। स्त्री और पुरुष भी प्रतिज्ञा-बद्ध हुआ करते हैं।

उत्पन्न होने के बाद पुरुष युवावस्था तक ब्रह्मचर्य धारण करता हुआ विद्योपार्जन करता है। अनन्तर इसके अपने समान वर्णों वाली अथवा समान गुण, कर्म, स्वभाव वाली कन्या से अपना सम्बन्ध जोड़ता है और गार्हस्थिक-जीवन में प्रवेश करता है। ऐसा ही अधिकार स्त्रियों के लिये भी है। उनको भी आज्ञा है कि वे अपने समान वर्णों वाले पुरुष से अपना सम्बन्ध स्थापित करें। यह बात मनु के निम्न-श्लोक से स्पष्ट है:—

काममामरणात्तिष्ठेद्‌ गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनांप्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्‌ ॥

९—८९

ऋतुवाली कन्या चाहे मरने तक घर में कुमारी ही बैठी रहे परन्तु उसे गुण-हीन (असमान) पुरुष से कभी न विवाहे ।

इससे यह पता चलता है कि मनु ने कन्या का मूल्य कितना उत्कृष्ट आँका था। उनकी दृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनों बराबर थे। वे कभी पुरुष से स्त्रियों को तुच्छ नहीं समझते थे। वे स्त्री पुरुष को समानाधिकारी मानते थे। निम्न-श्लोक में वे कहते हैं:—

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्ता वितरेतरम्‌ ॥

९—१०२

विवाहित स्त्री पुरुष का परस्पर ऐसा व्यवहार होना चाहिये जिसमें कभी जुदाई न होने पावे।

प्रयोजन यह कि पुरुष न अन्याय करे अपनी पत्नी के

संग और न पत्नी अन्याय करे अपने पति के संग। दोनों का व्यवहार एक दूसरे के प्रति समान होना चाहिये।

बहुधा यह भी देखने में आता है कि लोग शब्दों का अर्थ बड़ा संकुचित लिया करते हैं। जैसे—'रक्षा' और 'सुश्रूषा'। जिससे भयंकर अनर्थ हो जाता है। यद्यपि रक्षा का प्रयोजन उनकी जीवन यात्रा में सुविधा पैदा करने के भाव को लेकर है। न कि उनको बाँध कर रखने की इच्छा में। वैसे ही सुश्रूषा का प्रयोजन स्त्रियों के लिये पतियों की सहायता करने और उनकी यात्रा को सुलभ बनाने के संकेत में है। यही नहीं मनु ने स्त्रियों को यह भी आदेश किया है कि वे अपने पतियों की रक्षा करें। जो निम्न शब्दों में है:—

अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदा मरणान्तिकः।
एषधर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्री पुंसयो परः॥

९—१०१

भार्या और पति का मरण पर्यंत आपस में व्यभिचार न होना ही स्त्री और पुरुषों का संक्षेप से श्रेष्ठ धर्म जानना चाहिये।

स्त्री पुरुष की अर्थात् पत्नी पति की किस प्रकार रक्षा करे इस विषय पर कुछ प्रकाश डालना बहुत ही आवश्यक है। उपर्युक्त श्लोक के अन्दर वही बात कही भी गई है।

आधुनिक समय की यह बात बिलकुल सत्य है कि विवाह होने के उपरान्त स्त्री-पुरुष परस्पर एक दूसरे में इतना अधिक अनुरक्त होते हैं कि उनका दैनिक जीवन व्यभिचार-पूर्ण हो जाता है। पत्नी को पति के देखे बिना चैन नहीं, पति को पत्नी के देखे बिना चैन नहीं। प्रतिदिन की इस क्रिया अथवा विषय-वासना में सलंग्न होने से प्रायः दोनों के भविष्य-जीवन के दिन संकट-मय हो जाते हैं। इसीलिये कहा कि परस्पर व्यभिचार न होना चाहिये। क्योंकि नियम के विपरीत संयम से परे का व्यवहार व्यभिचार को प्रकट करता है। अतः पत्नी को भी उचित है कि वह पति को विषय वासना में अधिक न फँसने देने का प्रयत्न करे। जिससे पति अनियमित व्यवहार से सुरक्षित रहता हुआ स्वस्थ्य एवं निरोगी रहे।

हाँ! तो 'सुश्रूषा' के विषय में जैसा कि मैं ऊपर कह आया हूँ, लोग बड़ा संकुचित अर्थ लेते हैं। मनु के जिन वाक्यों में मर्यादा के साथ समय पर पिता, पुत्र, पति को स्त्री के सहाय-

तार्थ कड़े आदेश किये गये हैं। उनको किसी अवस्था विशेष में निस्सहाय छोड़ देने की आज्ञा नहीं दी गई है। जैसे राजा किसी अवस्था विशेष में निस्सहाय छोड़ा जाने योग्य नहीं है, उसका जन-समाज ने जो अर्थ लगाया उसको कहने की आवश्यकता नहीं। उसी के सहारे तो हमारे वर्तमान बहुतेरे साहित्यिक महानुभाव स्त्रियों की स्वतंत्रता के अपहरण का चित्र चित्रित करते हैं। यद्यपि यह उनका दोष नहीं है। उनकी दृष्टियों का दोष है। जहाँ आदर्श मर्यादा को तिलांजलि दी जा चुकी है। अस्तु:—

शुश्रूषा करने वाली होने से स्त्रियाँ टहलिनी कैसे हो गईं ? तनिक यह बात हमारे समझ में नहीं आती। क्या मित्र अपने मित्र की यथावसर सहायता करते रहने पर उसका सेवक हो जाता है ? कदापि नहीं, ऐसा सोचने वालों की भयंकर भूल उन्हें एक विशाल गर्त्त में ले जाकर ढकेल देगी। फिर वे कभी उसमें से निकल नहीं सकेंगे। एक समय था जब भारतवर्ष उच्च-शिखर पर स्थित होकर अपनी मृदु-दुंदुभि बजा रहा था जिसका निराकरण ऊपर कराया जा चुका है। एक समय यह है कि वह गुलामी के सिकंजे में जकड़े होने पर भी अपनी मर्यादा, अपना

सुख, अपना वैभव, अपनी कीर्ति, और अपनी सभ्यता सब लुटा रहा है। क्या यह पागलपन के उपलक्षण नहीं हैं ?

जिस मनु ने यह लिख कर बतला दिया है कि स्त्रियों का अन्य कोई यज्ञ नहीं है। केवल पति के धारण किये हुए यज्ञ का अनुकरण करना अथवा पति को उस यज्ञ में सफलता दिलाने के प्रयोजन-वश उसमें भाग लेना ही उनका एक-मात्र कर्तव्य है तो फिर मैं नहीं समझता कि वे स्त्रियों के और अन्य कौन से कर्तव्य की व्यवस्था करना अपने ध्येय का पूर्ण होना समझते हैं।

मनु के उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट सिद्ध है कि स्त्रियाँ भी वही कर्म करें जिन्हें पुरुष करते हैं। इसलिये कि वेदोक्त आदर्श केवल पतिव्रता होना मात्र ही नहीं है। पतियों की अनुव्रता होना भी है। जैसा कि अथर्ववेद का निम्न मंत्र सूचक है:—

"पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृतायकम्।

इसका तात्पर्य यह है कि अपने पतियों के यज्ञ (शास्त्र निर्धारित कर्म) में सब प्रकार की सहायता देना और उनके

सार्वजनिक मनोरथों की पूर्ति में यथा-शक्ति सहयोग देना। उदाहरणार्थ पति यदि ब्राह्मण वृत्ति को धारण करता हुआ वेदादि पढ़ाने और धर्म के प्रचार में तत्पर है तो उसकी पत्नी को चाहिये कि वह भी अपने अन्दर सौम्यतादि सात्विक गुण धारण करते हुए नियत समय में कन्याओं के पढ़ाने, उपदेश देने, संगीत की शिक्षा देने, लेखादि द्वारा उत्तम भावों के प्रकाश करने का कार्य करे। क्षत्रिय-वृत्ति धारण किये हुए पति की पत्नी का कर्तव्य है कि वह अपने अन्दर विशेष रूप से शूरवीरता के भाव धारण करते हुए पति को कर्तव्य पालन में मदद दे। जैसे राजा का कर्तव्य देश पर शासन करना अर्थात् दुष्टों का दमन करते हुए धर्मात्मा पुरुषों की रक्षा करने का है। ऐसा ही यदि कोई अपराधिनी स्त्री है तो उसके अपराध का विचार राजा की रानी को करना चाहिये और आवश्यकतानुसार अपने इस कार्य के सहायतार्थ स्त्री सैनिक, स्त्री गुप्तचर आदि की व्यवस्था कर पति के राज्य शासन में सुगमता उत्पन्न करने के लिये निरन्तर सहयोग देना चाहिये। देश की रक्षार्थ वीर राजपूत स्त्रियों की तरह स्वयं भी मैदान जंग में जाना चाहिये और वैश्य की पत्नी को अपने पति के धारण किये हुए

वृत्ति तथा व्यापार में खूब सहयोग देना चाहिये। जिससे पति को व्यापार में पूर्ण रूपेण सफलता मिले।

सचमुच यदि ऐसी व्यवस्था आज हमारे इस देश में हो जाये तो साधारण से साधारण स्त्रियों का बाजार में वस्तु क्रय के लिये जाने का कार्य सरल हो जाये। परन्तु इसका रूप यही होना चाहिये कि सामान को क्रय करने वाली स्त्रियों से विशेष रूप में स्त्रियाँ ही विक्रय करें। पुरुष वर्गों से पुरुष वर्ग। इस प्रकार का दो विभाग हो तो अच्छा ही है। पति की अनुव्रता होने का यही स्पष्ट अभिप्राय है। राजा की अनुव्रता वही देवी है जो अपने गृहकृत्यों से निवृत्त होकर स्त्रियों के विवादों का फैसला करती है और स्त्री शिक्षादि का राष्ट्र की ओर से विशेष प्रबन्ध करती है। जिसके अन्दर स्त्री-विषयक विवादों को सुनकर उनका पक्षपात-रहित फैसला करने की शक्ति हो। यही बात अन्य सभी गुणी पुरुषों की पत्नियों के सम्बन्ध में जानना चाहिये। इसी आधार पर मनुस्मृति की रचना केन्द्रित है।

बहुतेरे महाशयों को तो मनु का स्त्रियों को ब्रह्मचारिणी संज्ञा देकर शिक्षा देने का कहीं उपलक्षण ही नहीं मिलता।

जो बड़े आश्चर्य की बात है। परन्तु गंभीरतापूर्वक मनुस्मृति का अध्ययन करने से यह समस्या हल हो जाती है। उनके परितोष के लिये निम्न श्लोक में ऐसे उपलक्षण का प्रत्यक्ष आभास है। मनु लिखते हैं:—

नाम धेयस्य ये केचिदभिवादनं जानते ।
तान्प्राज्ञोहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैवच ॥

मनु० २—१२३

इस श्लोक के पहले जो श्लोक आया है उसमें ब्रह्मचारी के नमस्कार करने की क्रिया और रीति का निर्देश किया गया है। जिसमें (ब्रह्मचारी) वाक्य के अन्त में "मैं अमुक नामवाला हूँ" ऐसे अपना नाम (परिचय देता) कहता हुआ बोले। परन्तु जिन्हें नाम धेय का उच्चारण पूर्वक नमस्कार करना नहीं आता, उनसे बुद्धिमान ब्रह्मचारी ऐसा कह दें कि—"मैं नमस्कार करता हूँ।" ऐसा ही (ब्रह्मचारिणी) स्त्रियाँ भी करें।

दूसरे स्थल २—२३१ पर लिखते हैं:—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥

यहाँ पिता, माता और गुरु तीनों को तीन भिन्न-भिन्न गुणानुसार अग्नियाँ माना है। जिसमें उत्तम मध्यम लघु का जिक्र तक नहीं है। इन श्लोकों के उद्धरण से मेरा प्रयोजन यही है कि लोग देखें कि माता का दर्जा पिता से पत्नी का दर्जा पति से और स्त्री का दर्जा पुरुष से कहीं भी कम नहीं माना गया है प्रत्युत ऊँचा ही है। इस तरह मनु ने सर्वत्र वेद का ही अनुकरण किया है। जिस वैदिक काल में स्त्रियों को बड़े से बड़ा अधिकार प्राप्त था उस अधिकार को मनु ने भी स्त्रियों को दिया है। परन्तु हमारी संकुचित दृष्टियों ने उनका ज्ञान करने में अपने को स्पष्ट रूप से संकुचित प्रकट कर दिया है। वेदों में जहाँ स्त्रियों के पृथक् न्यायालय का वर्णन है, उनको सैनिक बनने की आज्ञा है, उन्हें वैद्यक शिक्षा प्राप्त करने और देने का आदेश है। जिसको ऋषि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में स्थान स्थान पर अत्यन्त स्पष्ट किया है। वैसे ही मनु में भी स्त्रियों की विशेष विशेष पदों पर राजा के द्वारा नियुक्ति का वर्णन है। मनु लिखते हैं:—

राजाकर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्य जनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद् वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः॥

प्रयोजन यह कि राजा अपने राज्य शासन में सुगमता और सुलभता स्थापित करने के लिये उनकी योग्यता और उनके गुण और कर्म के अनुसार अच्छे श्रेष्ठ स्त्री-पुरुषों को वृत्ति (वेतन) देकर विशेष विशेष पदों पर नियुक्त करे।

कौन कह सकता है कि इस अपनी छोटी सी पंक्ति अथवा छोटे से वचन के अन्तर्गत मनु ने स्त्रियों को वेद मर्यादा के अनुसार उपर्युक्त वर्णन किये हुए विभिन्न पदों पर नियुक्त करने की आज्ञा नहीं दी ? वे मनुष्यों के समान सभा सोसायिटियों में शरीक होने की अधिकारिणी हैं। संसार में कोई भी कार्य क्षेत्र ऐसा नहीं जहाँ स्त्रियाँ न पहुँच सकें। मनु इसके लिये कहीं रोकते नहीं दिखाई देते। जिन्हें ऐसा सूझ पड़ता है उनकी दृष्टियों में भ्रम है।

स्त्रियों की स्वतंत्रता

अरक्षिता गृहे रुद्धा पुरुषैः एस कारिभिः ।
आत्मानमात्माना रक्षेयुस्ता सुरक्षिता ॥

मनु० ९—१२

"पत्नी पति की दासी कदापि नहीं है, न वह पति के भोग की सामग्री है। जो स्वतंत्रता पति अपने लिये चाहता है, ठीक वही स्वतंत्रता पत्नी को भी होनी चाहिये।"

—महात्मा गांधी

भारत में स्त्री स्वतंत्रता का आन्दोलन नदी के अनन्त प्रवाह का रूप धारण कर चुका है। उन्हें भी यह अनुभव होने लगा है कि मुझे भी उसी प्रकार स्वतंत्र होना चाहिये जिस प्रकार भारतीय पुरुषवर्ग स्वतंत्र होते आये हैं। वे पोगापंथी

महानुभावों की टर्र टर्र की परवाह न करके अदम्य उत्साह के साथ शीघ्रता से उस ओर बढ़ रही हैं, जिस ओर उनके सहवर्गी पुरुष वर्ग निवास कर रहे हैं? वे वहाँ पहुँच कर दिखला देना चाहती हैं कि उनके वहाँ पहुँच कर स्थित होने में ही कल्याण है। उधर भारत का उज्वल भविष्य उनके सहयोग की ही प्रतीक्षा कर रहा है।

इस सत्य को अंगीकार करने में संभवतः किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि इस बीसवीं सदी के जागृति-काल में अखिल-विश्व के छलछलाते हुए विभिन्न आन्दोलनों के पश्चात् इस महिला आन्दोलन की ही बारी है। जो निश्चय ही अतीतकाल के सुदूरवर्ती स्थान से नर-पिशाच पुरुषों के द्वारा भयंकर रीति से कुचली गई निर्दयता की प्रबल जंजीर से जकड़ी महिलाओं के लिये प्रकृति देवी के उत्कृष्ट आशीर्वाद का सौष्ठव रूप है। जिसको पूर्ण करने में हज़ारों महान् पुरुषों का अखंड परिश्रम भी सफल नहीं हो सकता, वह क्षण-मात्र में कुछ का कुछ हो रहा है। पता नहीं, किस ओर से फूट कर महिलाओं की स्वाधीनता का संदेश मलय पवन के एक प्रबल झोंके के सदृश सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होकर इनमें वह शक्ति और

स्फूर्ति उत्पन्न कर गया है कि पोंगापंथी नर-पिशाच पुङ्गव आश्चर्य चकित दृष्टि से देख रहे हैं और उनकी स्वार्थ से सनी सम्पूर्ण क्रियायें मृत्यु के विशाल मुख की ओर धीरे धीरे अपना पग बढ़ा रही हैं। उधर स्वाधीनता के मंत्र से आमंत्रित महिलायें अपनी गति को निरन्तर बढ़ाती जा रही हैं और जिधर दृष्टि जाती है उधर ही वह अपने पतियों के कंधे से कंधा मिलाकर चलने का विचार करती हुई नजर आती हैं। इस पद्धति को मनु अक्षरशः स्वीकार करते हैं। ऊपर उद्धृत किया गया श्लोक यह प्रकट कर रहा है कि घर के अन्दर बन्द करके रखी गई स्त्री कभी भी सुरक्षित नहीं है उसको सुरक्षित करने के लिये उसमें आत्म-बल प्रदान करने की आवश्यकता है। जो स्वतंत्रता के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसके विपरीत परतंत्र स्त्री में आत्म-बल का होना असंभव है। अतः मनु स्त्रियों की परतंत्रता के कायल नहीं। जो लोग मनु को स्त्रियों का परतंत्र करार देने वाला कहते हैं उन्होंने मनु के लिखित सिद्धान्तों पर कभी भली भाँति दृष्टि नहीं डाला है।

यह तो स्पष्ट देखने में आया है कि हमारे बड़े से बड़े वक्ता और बड़े से बड़े सुधारवादी अथवा लेखक महानुभाव

अपनी वक्तृता अथवा लेखिनी को ओजस्विनी बनाने के प्रयोजन में ऐसी ऐसी बातें कह जाते हैं जिन्हें वे स्वयं करते हुए नहीं दृष्टिगत होते हैं। यही कारण है कि उनकी वक्तृता का अस्तित्व उनके प्लेट फार्मों से हटने के पश्चात् ही लोप हो जाता है। वस्तुतः चाहिये तो यह कि मनुष्य जो कुछ कहे उससे स्वयं अपने आपको परिपूर्ण रक्खे। परन्तु यह न होकर हमने देखा है—"स्त्री स्वतंत्रता की लंबी लंबी डींग मारने वाले महानुभाव प्लेट फार्मों से हटते ही अपनी पत्नी के संरक्षण कार्य में संलग्न हो जाते हैं। यह क्यों ?"

इस प्रश्न पर गंभीरता पूर्वक विचार करने से पता लगता है कि मनुष्य में उस प्रकार का स्वभाव है, कि जब दो परस्पर मित्र कहीं की यात्रा करते हैं तो वे परस्पर एक दूसरे की कुशल की कामना करते हैं। वे इच्छा रखते हैं कि हमारा मित्र कहीं आफत में न फंसने पावे। मित्र के इस कर्त्तव्य को मनु पुरुषों के लिये इस रूप में रखते हैं:—

"सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसंगेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।"

अर्थात पति का कर्तव्य है कि वह अपनी पत्नी को थोड़े से भी कुसंग से बचाता रहे।

यही कारण है कि मनुष्य में आज भी स्वभाव से ही यह बात पायी जाती है वह अपनी पत्नी के लिये सर्वदा चिन्तित रहता है। उसे कुसंग में न पड़ने देने की सर्वदा चेष्टा किया करता है। पत्नी भी अपने पति के लिये चिन्तित रहती है। वह:—

सदाप्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषुदक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चा मुक्तहस्त्या ।

म० ५—१५०

सर्वदा प्रसन्न-चित्त होकर घर का कार्य चतुरता से करती है और थोड़ा सा ही व्यय करके घर की सम्पूर्ण व्यवस्था कर देती है।

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देह संयता ।
साभर्तृ लोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ।

म० ५—१६५

मन, वचन, कर्म से अपने धर्माचरणी पति को (वह) स्त्री दुखित नहीं करती वह (अपने पति के साथ साथ संसार की यात्रा करते हुये) यश को प्राप्त करती है।

अतः इस आधार पर हम जब कि आज इन प्रत्येक कार्यों में स्त्री और पुरुष दोनों को बराबर कंधे से कंधा मिला कर काम करते हुए देखते हैं तो प्रसन्नता के मारे फूले नहीं समाते। हर्ष से नाच उठते हैं। हृदय गद्‌गद् हो जाता है। हम स्त्री के पूर्ण स्वतंत्र होने कि कल्पना करने लगते हैं और सोचते हैं कि हमने वेद और शास्त्रों की मर्यादा तोड़ दी। परन्तु नहीं। ऐसा सोचने वालों की यह भारी भूल है। मनु तो स्वयं आदेश करते हैं कि—

"स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वंतद्रोचते कुलम्।

मनु० ३—६२

पत्नी यदि पति को शोभा देती है अर्थात् पति के कंधे से कंधा मिला कर काम करती है तो संपूर्ण कुलों की शोभा बढ़ती है।

आगे और सुनिये:—

संतुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

मनु० ३—६०

जहाँ इस प्रकार पति पत्नी परस्पर एक दूसरे से प्रसन्न रहते हैं वहाँ सर्वदा कल्याण रहता है।

पति से पत्नी और पत्नी से पति वहीं प्रसन्न रहते हैं, जहाँ दोनों कंधे से कंधा मिलाकर एक दूसरे के हित के हेतु प्रयत्न करते हुए दृष्टिगत होते हैं। इसलिये स्त्रीवर्ग के लिये मनु का यह आदेश कि—"तुम अपने पतियों के कंधे से कंधा मिलाकर अर्थात् उनके संसर्ग में या उनसे रक्षित होकर (सहायता लेती हुई) संसार की यात्रा करो, और पति को यह आदेश कि तुम अपनी पत्नी पर सर्वदा दृष्टि रक्खो अथवा उनकी भलाई का उपाय सोचते रहो। इसलिये कि वह किसी आफत में न फंसने पावे।" कदापि आपत्ति जनक नहीं है। मेरी समझ में नहीं आता कि आधुनिक शिक्षित समाज इसमें कौन सी आपत्ति की बात देखता है। क्योंकि कंधे से कंधा मिला कर चलना ही तो संसर्ग में रहना है और उन पर दृष्टि रखने से उनकी बदमाश गुंडों से रक्षा होती है।

मनु के द्वारा विभक्त की गई 'अस्वतंत्रता' की परिभाषा 'परतंत्रता' नहीं है। उन्होंने स्मृति भर में कहीं भी स्त्रियों के लिये परतंत्र शब्द का प्रयोग नहीं किया है। अस्वतंत्रता की

परिभाषा यही है जो एक मित्र के साथ मित्र का कर्तव्य है। "मित्र" मित्र को पराधीन करने का अधिकारी नहीं। मनु ने इसका विरोध भी किया है:—

न कश्चिद्योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।

मनु० ९—१०

स्त्रियों की रक्षा करने का अर्थ कोई शक्ति से बाँध कर न निकाले।

अतएव मित्र का कर्तव्य यही है कि वह आने वाली विपत्तियों से अपने मित्र को सूचना द्वारा अथवा सहयोग देकर बचाता रहे। इसीलिये आदेश है कि:—

"अस्वतंत्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।"

अर्थात् पुरुष (पति) सर्वदा स्त्रियों (अपनी पत्नी) पर दृष्टि (सहायता के लिये भाव) रक्खे।

इसका प्रयोजन परतंत्र करने का नहीं। न अस्वतंत्राः का अर्थ परतंत्र है। प्रत्युत पत्नी को वह मदद दे। यही मनु का सिद्धान्त है।

संसार में जिस प्रकार वस्तुओं की पृथक् पृथक् कोटियाँ

होती हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी कई कोटियों में विभक्त की जा सकती हैं। जिनमें रूप, रस, गंध से प्रेम करने वाली चंचल वृत्ति की स्त्री को घर के कार्यों में ही लगाना उपयुक्त है। परन्तु आश्चर्य है, कि विषय से प्रेम रखने वाली स्त्री के लिये भी उन्होंने यह नहीं लिखा कि उसे कोठरी में ठूँस कर रक्खो। हाँ, यह अवश्य बतलाया है कि उनकी आत्मा को अपने प्रत्येक प्रयत्नों में अपनी आत्मा की ओर आकर्षित करते रहो। सर्वदा उनका चित्त तुम्हारे चित्त से मिला रहे। जिससे वे हृदय में तुम्हारे प्रति सर्वदा प्रेम और श्रद्धा रक्खें, ऐसा ही प्रयत्न तुम करते रहो।

जिन स्त्रियों में आत्मबल है उनके लिये तो वे कहते हैं कि पुरुषों के रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं है। वे स्वयम् सुरक्षित हैं। उनके लिये पुरुष को किसी प्रकार की शंका न करनी चाहिये। उनका कर्तव्य होगा कि वे घर के बाहर भी पुरुष के समान स्वतंत्र होकर संसार के सम्पूर्ण कार्यों में वैसे ही भाग लें, जिस प्रकार उनके पति वर्ग करते आये हैं। इस बात को "नास्ति स्त्रीणां...श्लोक द्वारा 'स्त्रियों के अधिकार' शीर्षक में अत्यन्त स्पष्ट किया जा

चुका है। पति के लिये शास्त्रों में निर्धारित कर्तव्यों का अनुगमन करने वाली स्त्री ही संसार में कीर्ति और परलोक में अक्षय सुख को प्राप्त करती है। इसी बात को पुनः पुष्ट करने के लिये मनु निम्न श्लोक, निम्न रूप से देते हैं:—

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पति लोकमभीप्सन्ती ना चरेत्किञ्चिदप्रियम् ॥

म० ५—१५६

वे कहते हैं—उस लोक की (पति के लिये शास्त्रों में निर्धारित कर्तव्यों को धारण कर यश प्राप्त करने वाली) इच्छा करने वाली साध्वी (सुशील आत्म-बलवती) स्त्री, पति के (उसके शास्त्रों में निर्धारित कर्तव्यों के) विरुद्ध कोई आचरण न करे।

इससे हमारे पूर्व प्रकट किये हुए विचार की और भी पुष्टि होती है कि जिस प्रकार संसार यात्रा के लिये पुरुषों का कर्तव्य मनु ने निर्धारित किया है उसी प्रकार का कर्तव्य मनु ने स्त्रियों के लिये भी माना है। क्योंकि वे कहते हैं कि पति के धारण किये हुए कर्तव्य के विरुद्ध स्त्री आचरण न करे।

बाल्ये पितुर्वशेतिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतंत्रताम् ॥

म० ५—१४८

यह श्लोक उन स्त्रियों के लिये कहा गया है जो आत्म-बलवती नही हैं। ऐसी स्त्रियाँ अपने पिता, पति, और पुत्र के संरक्षण (देख रेख) में रहें, उन्हें अतीतकाल के लिये अलग न होना चाहिये इसलिये कि वे निर्बल हैं, असहाय हैं। अन्यथा:—

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापिनेच्छेद्विरहमात्मनः ।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्यं कुर्या दुभे कुले ॥

म० ५—१४९

अतीत काल तक के लिये पिता, पति और पुत्र से अलग होकर स्त्री संसार को अवसर देगी कि वह उसकी ओर उंगली उठाकर दिखावे। इससे पितृकुल और पतिकुल दोनों ही अप-कीर्ति के भागी होंगे।

मनु की यह उपर्युक्त लिखी हुई बात अनुचित व असत्य नहीं है। जिसकी आत्मा में बल नहीं है उसके लिये सन्दिग्ध

विचार का होना अनिवार्य ही है और जिनकी आत्मा में बल है उनके लिये कोई उंगली उठाने का साहस ही नहीं कर सकता। फिर ऐसी स्थिति में मनु के विचार को कुविचार कहना क्या मूर्खतापन का उपलक्षण नहीं है। चंचल और डरपोक इन दोनों प्रकार की स्त्रियों का संसार में कौन विश्वास करता है। डरपोक और कायर एवं कोमल दिल वाली स्त्रियों के लिये संरक्षण का होना अनिवार्य ही है। उनके मार्ग में पग पग पर काँटा बिछा हुआ है।

यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है—कोई भी हो चाहे, वह स्त्री हो अथवा पुरुष हो, अपनी प्रिय वस्तु का उपभोग दूसरों के द्वारा होते नहीं देख सकता। अत: इसलिये जिनकी आत्मा में बल नहीं है मनु उनके लिये कैसे आज्ञा दे देते कि वे अपने पतियों के संसर्ग में न रह कर (पतियों से सहायता न लेकर) मनमाने स्थानों पर घूमे ताकि बदमाश गुण्डों को मौका मिले कि वे अपनी कुत्सित भावनाओं को सफल करें। आत्मबल-हीन स्त्रियों के लिये उनकी आज्ञा है कि उनके पति उन पर दृष्टि रक्खें। आत्मबल वालियों के लिये नहीं। दृष्टि रखना संरक्षण कार्य है। इसका आशय परतंत्र कर देना नहीं।

सभी जानते हैं—कीट पतङ्गों से लेकर मानवी योनि तक सभी स्वतन्त्र जीवन का अनुभव करते हैं। यह तो किसी भी प्राणी की बेबसी होती है जिसे परतन्त्र जीवन बिताना पड़ता है। निसंदेह परतन्त्र जीवन दुःखदाई है। संसार के सभी महान् पुरुषों ने परतन्त्रता को घृणा की दृष्टि से देखा है। उनका कहना है—"स्वाधीनता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।" परन्तु कैसे ? इस पर कभी किसी ने विचार नहीं किया। साथ ही "अति सर्वत्र वर्जयेत्" इसकी ओर भी किसी ने गौरपूर्ण दृष्टि से नहीं देखा है। यदि इन दोनों बातों पर गंभीरतापूर्वक विचार कर लिया जाय तो सारी समस्या हल हो जाती है।

सचमुच यदि मनुष्य सुख की आकांक्षा रखता है तो उसे चाहिये कि वह स्वाधीनता (अपने हित के हेतु शास्त्रों में निर्धारित नियम) की ओर अग्रसर हो। शास्त्रकार उसकी इस क्रिया से सर्वथा सहमत हैं। इसलिये कि बुरी वासनाएँ और घृणित विचार अथवा कुत्सित भावनाएँ ही मानवी जीवन को परतंत्र करने की सामग्री हैं। बुरे विचारों में पड़ कर मनुष्य कहाँ कहां नहीं जाता—और क्या क्या नहीं करता—जिसके

परिणाम स्वरूप उसे असह्य वेदनाओं से भयानक संग्राम करना पड़ता है। इसलिये मनुष्य अपनी इन्द्रियों के संसर्ग से उत्पन्न हुई प्रबल नाशकारी इच्छाओं का परित्याग कर दे। जिसके लिये वह भयानक ताण्डव नृत्य का नर्तक बनने में तनिक भी लज्जित नहीं होता। यही पवित्र दाम्पत्य-जीवन के बीच कलह की सृष्टि करने वाली सामग्री का मूल मंत्र है। इसके अन्त के होते ही सारी समस्या सुलझ जायगी।

यद्यपि यह एक महान् उपयोगी बात है—जो सदियों के बाद स्त्री समाज को सूझ पड़ा है। उनका अपने पतियों से कंधे में कंधा मिलाकर चलना सम्पूर्ण विश्व में स्त्री जाति पर होते हुये अत्याचारों का संहार करेगा और धर्मविज्ञ प्राणी इस पर दृष्टिपात कर हर्ष से नाच उठेगा। मनु इसी प्रणाली के पोषक हैं। वे स्त्री और पुरुष में भेद नहीं मानते। स्त्री पर दृष्टि रखने से प्रयोजन यह है कि मनुष्य अपने उस आधे अंग का भी संसार यात्रा करते हुये ख्याल रक्खे। साथ ही उसे बलवान् बनाता जाय। फिर जब उसे (स्त्री को) आत्मबल प्राप्त हो जायगा तो उसे उसकी रक्षा के लिये चिन्ता न करनी होगी। वह आसानी से हर स्थानों में निर्भय होकर आ जा सकेगी।

यदि-कारण वश उसका अन्य पुरुषों से सम्भाषण भी होगा तो आपत्ति की कोई बात नहीं। परन्तु संभाषण करने वाले उसके मित्र सर्वदा से सदाचारी और श्रेष्ठ रहते आये हों या जिससे वह संभाषण कर रही हो, उसे उस संभाषण करने वाले के चरित्र का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी भाव को निम्न श्लोक में मनु ने लिखा है:—

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात्।
न दोषं प्राप्नुयात्किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः॥

८—३५५

मैं ऊपर बता चुका हूँ कि मनु ने स्त्री और पुरुष में भेद नहीं माना है। जो स्त्री है, वही पुरुष है। उनका कहना है—इसे वेदज्ञ ब्राह्मण ही जानते हैं। यही आशय इस निम्न श्लोक में पाया जाता है:—

"विप्रा प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सास्मृताङ्गना।

९—४५

इसकी विस्तृत व्याख्या श्रीमती चंद्रावती लखनपाल (एम० ए०) ने "स्त्रियों की स्थिति" नामक पुस्तक के प्रारम्भ

में बड़े अच्छे रूप से की है। अतः हम उसी का उद्धरण यहाँ दिये देते हैं। जो आसानी से समझ में आ जायगा:—

"प्राचीन वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति किसी अंश में पुरुषों से कम न थी। वे पुरुषों के बराबर समझी जाती थीं। स्त्री पुरुष का आधा अङ्ग मानी जाती थीं। यह भाव अर्द्धाङ्गिनी शब्द से भली भाँति व्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार 'दंपति' शब्द से भी स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से घर के पति माने जाते थे। 'दम' शब्द वेदों में 'घर' के लिये प्रयुक्त होता है। उसके वे दोनों मालिक समझे गये थे। वैदिक साहित्य में स्त्री और पुरुष की उत्पत्ति की कथा भी इस बात को पुष्ट करती है कि उन दोनों की स्थिति समानता की थी। शतपथ १४, ४, २, १, ५ में लिखा है:—

"सृष्टि के आरम्भ में आत्मा ही था, उसी का नाम पुरुष था। वह इकला था, उसके अतिरिक्त दूसरा न था। उसने कहा, "मैं हूँ" इसलिये उसका नाम 'अहम्' हो गया। अकेला रमण नहीं कर सकता था। उसने दूसरे की इच्छा की। वह इतना था जैसे स्त्री पुरुष मिले होते हैं। उसके दो टुकड़े कर

दिये गये और वे 'पति'-'पत्नी' कहलाये।" इस कथा का यही अभिप्राय है कि स्त्री-पुरुष एकाकार थे, उस एकाकार (अर्थात् आत्मा एक है, वह न स्त्री है, न पुरुष) अवस्था के दो टुकड़े हो गए। समानता के भाव को प्रकट करने के लिये इससे अच्छा दूसरा अलंकार क्या हो सकता है।"

इस आधार पर जब कि पति ही पत्नी है तो कदापि पति अपने आपको परतंत्र करने की इच्छा नहीं कर सकता। क्योंकि इससे वह निर्वल बनेगा। मनु का कथन अपने आपको सबल बनाना है। अतः पत्नी को आत्मबलशाली बनाना मनुष्य का ध्येय होना ही चाहिये।

प्राचीन काल में यह परिपाटी थी कि पति जहाँ जाता था उसके संग उसकी पत्नी भी जाती थी। परदा (स्त्रियों की परतन्त्रंता का मुख्य साधन) का नाम न था। यजुर्वेद में इसका उपदेश भी है। जो निम्न प्रकार है:—

आपोहिष्ठा मयो भुवस्तान ऊर्जे दधातन महेरणाय चक्षसे।

यजु० ११—५०

इसमें बतलाया गया है कि स्त्री और पुरुष का व्यवहार

बराबर का होना चाहिये। स्त्री पति को सुख दे और पति स्त्री को। यह परस्पर कभी अलग न हों। युद्ध कर्म में भी साथ साथ रहें।

यहाँ स्त्री और पुरुष अलग न रहें। युद्ध कर्म में भी एक साथ रहें। ऐसा क्यों कहा गया? इसलिये कि रथ के दौड़ने की सुन्दरता दोनों पहियों पर ही निर्भर है। दोनों पति पत्नी साथ रहने से और अधिक बलशाली रहेंगे। इस सम्बन्ध में बहुतेरी कथाओं का उदाहरण दिया जा सकता है। जिनमें राजा दशरथ और केकई की कथा अधिक प्रसिद्ध है। यह है स्त्री और पुरुष का परस्पर स्वतन्त्र रह कर सहयोग देने का परिणाम।

राम जब चौदह वर्ष के लिये वन को गये, सीता भी उनके साथ साथ गईं। जिस प्रकार वे नंगे पाँव साधु का वेष बनाकर गये उसी प्रकार नंगे पाँव साधुनी का वेष बना कर सीता भी गईं। यदि वे वन में उनके (अपने पति) के साथ न होतीं तो शूर्पणखा की विषयनीय वृत्ति द्वारा राम पर आक्रमण करने का न जाने क्या परिणाम होता? इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उधर सीता यदि आत्म-बलवती न होतीं तो अकेली होकर दुराचारी रावण से उसके निज गृह

में रहते हुए भी अपने आपको सुरक्षित रखने का कौन सा उपाय करती ? सीता ने एक बार नहीं, आत्म-बल की प्रेरणा से रावण से अनेकों बार आत्म-रक्षा के लिये भयंकर युद्ध किया है। यही कारण है कि वह चौदह महीने निरन्तर उसके घर में रह कर भी अपने को सुरक्षित रख सकी है। दूसरी बात यह है कि यदि सीता के साथ राम न गये होते या वे सीता पर दृष्टि न रखते तो रावण जैसे शक्तिशाली राजा के पंजे से सीता का छूटना कहाँ तक संभव था ? यह विज्ञ पाठक स्वयं सोच लें। यही मनु का आशय है वे दृष्टि रखने के प्रयोजन को इसी आधार पर लिखते हैं न कि स्त्री को परतन्त्र करने की आज्ञा देते हैं। शास्त्रकारों के इस सुन्दर आदेश में जो लोग स्त्री के पराधीनता की कल्पना करते हैं, वे मन्द बुद्धि के मनुष्य हैं। उन्हें इस बात की तह तक पहुँचने की कोशिश करनी चाहिये। वे मनु के इतना लिखने से यह न समझें कि अब स्त्रियाँ सच्चे भाव से घर के बाहर विचरण बिना पति के नहीं कर सकतीं। अथवा उन्हें छोटे मोटे कार्यों के लिये घर से बाहर जाने की आवश्यकता हुई तो नहीं जा सकतीं। वे बराबर जा सकती हैं। शास्त्रकार इसके लिये कहीं

निषेध करते नहीं दृष्टिगत होते। वे इसका विरोध करते हैं— "अरक्षिता गृहेरुद्धा" अरक्षित है घर के अन्दर ठूँस कर रखी गई 'स्त्री'! उसे बाहर निकाल कर साहसी और धैर्यवाली बनाओ।

आधुनिक सुधारवादी क्या चाहते हैं—इसे हम खूब समझते हैं—उनका कहना है लड़के लड़कियाँ एक साथ ही शिक्षा पावें और वे परस्पर स्वच्छन्दता पूर्वक एक दूसरे से मिल सकें। भारत की प्राचीन सभ्यता इसे स्वीकार नहीं करती— वह कहती है—'पिता रक्षति कौमारे'-कुमारावस्था में पिता, पुत्र-पुत्री दोनों की देख रेख करे—इसकी दृष्टि में यह कृत्य भयानक है। इससे सदाचार का पतन और उत्कृष्ट सभ्यता और शिष्टता का सर्वनाश हो जायगा। योरोप भी स्त्री और पुरुष की एक साथ शिक्षा का न होना अब स्वीकार करने लगा है। इसलिये कि इस स्वच्छन्दता (मनमानी) में भयंकर अनर्थ की संभावना है। पराई स्त्री और पराये पुरुष का मिलन नियम पूर्वक ही उपयोगी है।

समाज का नियम मनुष्य की आँखें हैं। इनको छोड़ देना आँखों का त्यागना है। फिर चक्षु-विहीन पुरुष का निरन्तर

भागते चले जाना आपत्ति-जनक है। क्योंकि यह निश्चित बात है कि उसके मार्ग में बाधायें पड़ेंगी। इसलिये मनुष्य को बहुत सोच विचार कर काम करना चाहिये।

स्त्रियों का दफ्तरों में, कारखानों में, वकालत तथा डाक्टरी करना आपति-जनक नहीं। वे पुरुषों के समान ही इन कर्मों को कर सकती हैं। वेद ने स्त्रियों के लिये इन बातों की व्यवस्था दी है और मनु ने इसे स्वीकार किया है। राजा को राज्य संचालन कार्य में सरलता लाने के लिये उनकी उचित उचित पदों पर व्यवस्था करनी ही चाहिये। जिसे मैं स्त्रियों के अधिकार शीर्षक में बतला चुका हूँ। परन्तु, प्राचीन आदर्श को देखते हुए अथवा वेद-वर्णित प्रथा का अनुकरण करते हुये।

स्त्रियाँ वकालत कहाँ करें? जहाँ स्त्रियों के लिये ही न्यायालय बना हो, जहाँ स्त्री ही न्यायाधीश हो। आवश्यकता पड़ने पर वह पुरुष के न्यायालय में भी जा सकती है। इसकी मनाई नहीं। जैसा मनु के एक श्लोक से मैं ऊपर बतला चुका हूँ कि वह कारण वश पर-पुरुष से बात कर सकती है। इसी प्रकार अन्य अनेकों कार्यों को समझना चाहिये।

मनु द्वारा स्त्रियों की परतंत्रता की कल्पना करने वाले

यह न समझे कि मनु ने यह लिखकर कि "पत्नी सदा अपने पति के संसर्ग में ही रह कर कार्य करे" इससे स्त्री पराधीन हो गई। यह तो सदाचार को धारण किये रहने की ताड़ना मात्र है। साथ ही इसके अन्तर्गत पुरुष भी तो ताड़ित होता है। दोनों में एकत्व चिरस्थाई होकर दाम्पत्य-जीवन को सुखी बनाता है। यही मनु के सिद्धान्त का निष्कर्ष है। पश्चिमीय सभ्यता और पूर्वीय सभ्यता में यही संक्षिप्त अन्तर है। पूर्वीय सभ्यता आसानी से हर स्त्री पुरुषों को मिला देने की आज्ञा नहीं देती। वह पश्चिमीय सभ्यता का अन्धानुकरण नहीं करना चाहती।

आँखों का परदा

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदा सुविपश्चितः ॥

मनु० २—२१३

"सामान्य तौर पर स्त्री-पुरुष के बीच माता-पुत्र, बहिन-भाई या पुत्री-पिता के समान सम्बन्ध होना चाहिये। यह तो स्पष्ट ही है कि दम्पति-सम्बन्ध 'अपवाद' रूप में ही हो सकता है। अगर भाई को बहिन से या बहिन को भाई से किसी प्रकार का डर हो सकता है तो प्रत्येक पुरुष को अन्य स्त्री से या प्रत्येक स्त्री को अन्य पुरुष से डर होना चाहिये।"

—महात्मा गांधी

यह अटल सत्य है। स्त्रियाँ पुरुषों के समीप बड़ी ही प्रिय वस्तु हैं। इनके सुन्दर कपोलों और मनोहर गातों में उसे बड़ा ही आनन्द मिलता है। इनको स्पर्श करके तो वह अपने आपको धन्य ही समझने लगता है। यही कारण है कि वह

इन्हें प्यार करता है। इस प्रकार वह इन्हें जितना ही प्यार करता है। उसके आनन्द का क्षेत्र उतना ही बढ़ता जाता है। हर समय उसके हृदय में इन्हीं की मनोहर मूर्ति होती है। वह इनको तरह तरह की दृष्टियों से देखता है। सोचता है और कहता है:—

दिलचस्प है, आफ़त है,
क़यामत है, ग़ज़ब है।
बात इनकी, अदा इनकी,
क़द इनकी, चाल इनकी॥

—अकबर

सचमुच इनकी बातें उसको दिलचस्प मालूम होती हैं। इनकी अदाएँ आफ़त हैं। इनका क़द क़यामत वर्षा करने वाला है और चाल तो ग़ज़ब ही ढाह देने वाली है। इनकी रसीली आँखें उसके कलेजे को तीक्ष्णबाण के सदृश बेधकर पार हो जाती हैं। बस, वह उन्मत्त हो उठता है और भले बुरे की पहचान न करता हुआ अपने आपको इनके हाथों में समर्पित कर देता है। यही उसका प्रेम स्थाई होकर पवित्र दम्पति के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

मनुष्य इनको क्यों प्यार करता है? इनके सुन्दर कपोलों पर क्यों रीझ जाता है? इनके अंगों को स्पर्श करने की वह क्यों इच्छा रखता है? इनके नेत्रों में तीक्ष्ण-बाणों का वह क्यों अनुभव करता है? इन प्रश्नों के उत्तर पर विचार करने से पता लगता है कि युवक मनुष्य की अंतरात्मा में एक प्रकार के उत्कर्ष अथवा ज्वाला का संचार होता है। जो उसको चैन नहीं लेने देती और यदि चैन भी मिलता है तो इनके कपोलों को चूम कर ही। इनके अंगों को स्पर्श करके ही। अतः यही कारण है कि वह इन्हें प्यार करता है।

यह उपरिलिखित बातें पुरुषों में ही नहीं पाई जातीं। स्त्री भी इन्हें उसी दृष्टि से देखती है, जिस दृष्टि से यह उसे देखते हैं। इस प्रकार इन दोनों की अंतरात्मा में प्रज्वलित उस अग्नि की शांति, इन दोनों के परस्पर प्रेम-पूर्वक सम्मिलन में ही होती है। इसलिये नारी पुरुष के समीप उसकी अंतरात्मा में उठती हुई ज्वाला की शांति का स्थान है।

लोगों का कहना है—प्राचीन काल में सृष्टि रचना के उपरान्त जब स्त्री और पुरुष परस्पर स्वच्छन्द विचरते थे। उनमें किसी प्रकार का नियम अथवा बंधन का आविर्भाव नहीं

हुआ था तो पुरुष अपनी अंतरात्मा में उठती हुई ज्वाला को किसी भी ज्वाला से सताई हुई स्त्री के समीप पहुँच कर शान्त कर लिया करता था। परन्तु यह पद्धति बुरी थी। इसमें निरी पशुता भरी पड़ी है। यह सभ्यता और शिष्टता के लक्षण नहीं है। यह मनुष्य संज्ञा को द्योतित नहीं करती। इस प्रकार का व्यवहार असभ्य और राक्षसों के लिये ही है। इस बात को उस समय के ऊँचे मस्तिक के मनुष्यों ने अनुभव किया। अतः नियम का निर्माण हुआ। वही नियम आज संसार में विवाह के नाम से प्रसिद्ध है।

पुरुषों के समीप स्त्रियाँ उनकी अंतरात्मा में उठती हुई ज्वाला की शांति का स्थान है। ठीक उसी प्रकार स्त्रियों के समीप पुरुष उनकी अंतरात्मा में उठती हुई ज्वाला की शांति का स्थान है। यह दोनों बातें ऊपर भली भाँति बताई जा चुकी हैं। अतः विरक्त पुरुष यदि इसके विपरीत उपदेश देने लगेगा तो यह स्वाभाविक बात है कि उनके (ब्रह्मचारियों के) चित्त को इन बातों की ओर न आकर्षित होने देने के जितने भी साधन हैं उन सभी का उपयोग करेगा यही बात बतौर साधन के ऊपर दिये गये श्लोक में मनु द्वारा कही गई है। जिस पर आधुनिक सुधारक

बड़े बड़े तूफ़ान खड़े करते हैं। स्त्रियों को ऐसा क्यों कहा गया ? स्त्रियों को वैसा क्यों कहा गया ? इसका उत्तर देना कोई टेढ़ी खीर नहीं। मनुष्य के समीप स्त्रियाँ ऐसी वस्तु ही हैं कि पुरुष इनके देखते ही मचल उठता है। इनका स्वभाव ही ऐसा है कि पुरुष की अंतरात्मा में इनको देखते ही हलचल मच जाती है। यह स्वभाव इनका गुण विशेषण है न कि अव-गुण। इस प्रकार यदि इनमें यह गुण ही न होता तो पुरुष इनको प्यार ही क्यों करता और फिर दम्पति-गृह का निर्माण न होकर संसार एक नीरस वनस्थली होता। इनके इन गुणों के कारण ही संसार रसयुक्त कौतूहल का स्थान है। इसलिये मनु पर आक्षेप करने वालों के प्रलाप सर्वथा अनर्गल और सार-हीन हैं।

मनु की यह उपर्युक्त पंक्ति पुरुषों के समीप कही गई है। स्त्रियों के समीप नहीं। यदि यही बात स्त्रियों के समीप कही जाती तो उसका रूप यह होता:—

स्वभाव एष पुरुषाणां नारीणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः॥

जिसका अर्थ होता—"पुरुषों का स्वभाव ऐसा है कि वह

स्त्रियों को दूषित कर देता है। इसीलिये विदुषी स्त्रियाँ पुरुषों में प्रमत्त नहीं होतीं।"

क्या आशय निकला। बात एक ही है। अन्तर केवल स्थान भेद का है। हमारे सुधारक महानुभावों को इनके लिये हलचल मचाने की आवश्यकता नहीं। इन शब्दों में मनु ने स्त्रियों को कुछ बुरा नहीं बताया है। वे तो केवल उनके उन गुणों का ध्यान कर जिससे ब्रह्मचर्य भ्रष्ट हो सकता है, ब्रह्मचारी वर्ग के लिये ताड़ना दे रहे हैं।

यह सच बात है—'हम बाजारों में, मेलों में, नदी के तटों पर एक से एक सुन्दर स्त्रियों को फिरंगी की भाँति इधर से उधर फिरते देखते हैं तो हमारे अन्तःकरण में हलचल मच जाती है। यह क्यों? इसलिये कि आज कल इनके गुण अवगुण को समझाने की परिपाटी नहीं रही है। न ताड़ना देने का नियम है कि जिसके फल स्वरूप हमारे आँखों में परदा हो। कुछेक पुराने ग्रन्थों में यदि है भी तो नवीन-मानव-मस्तिष्क उनको अपनी क्षणिक जोशीली प्रकृति के सहारे तिरस्कार कर उठते हैं। वस्तुतः उन्हें शान्ति-पूर्वक बैठ कर इन बातों पर विचार करना चाहिए।

मनु के इस श्लोक में यह भाव छिपा है कि युवती स्त्री की ओर युवक पुरुष को न देखना चाहिये। क्योंकि युवती स्त्री में और युवक पुरुष में काम की जागृति होकर आदर्श मर्यादा का टूट जाना स्वाभाविक है। इसीलिये उन्होंने लिखा है:—

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्॥

मनु २—२१६

युवा शिष्य युवती गुरुपत्नी को अपना नाम बताता हुआ दूर से ही भूमिष्ठ होकर विधि-पूर्वक प्रणाम करे। यही नहीं वे लिखते हैं:—

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

मनु० २—१७९

इस श्लोक में स्त्रियों की ओर सकाम दृष्टि से देखने की जोरदार मनाही है और प्रमाद लाने वाली अन्य क्रियाओं का भी जोरदार निषेध है। यही कारण है कि उस समय के

पुरुष देवता और स्त्रियाँ देवी हुआ करती थीं। परन्तु आज-कल बचपन से ऐसी परिपाटी के न होने से भारत जिस ओर जा रहा है। वह आपको नीचे दिये गये उद्धरणों से मालूम होगा।

आज से कुछ काल पहिले की बात तो जाने दीजिये इस समय भी जिसे लोग सभ्यता का युग कहते हैं। भारत में विलासिता का प्रसार दिन दूने और रात चौगुने हो रहा है। इस अपनी विलासी इच्छाओं के परिणाम स्वरूप हमारे अनेकों भाइयों के द्वारा हमारी विभिन्न बहिनों के सतीत्व का नित्य-प्रति पतन हो रहा है। उनके सतीत्व को नष्ट करने के साथ साथ वे अपना भी मुँह काला करते हुए सदैव ही दृष्टिगत होते हैं। हम रोज अखबारों में पढ़ते हैं और अपना सा मुँह लेकर रह जाते हैं। कुछेक को उदाहरण स्वरूप नीचे स्थान दिया जाता है:—

१—"रायल एयर फ़ोर्स के आफ़िस में काम करने वाले एक हिन्दू सज्जन के यहाँ गत अप्रैल में उनकी बहन, रामदेवी, शिमले आई थी। लगभग ४ सप्ताह पूर्व एक दिन रामदेवी, अपनी भावज के साथ कुछ झगड़ा हो जाने के कारण, रूठ

कर घर से बाहर निकल गई। जिस टेकड़ी पर उसका मकान था, उसी के नीचे तीन मुसलमान धोबी कपड़े धो रहे थे। रामदेवी को अकेली देखकर धोबियों में से एक उसके नजदीक आया और भोली लड़की ने उसकी चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अपना सारा किस्सा उसे कह सुनाया। इस पर तीनों धोबियों ने अलग जाकर आपस में कुछ सलाह मशविरा किया और तब लड़की से कहा कि उसका भाई जब तक आफ़िस से न लौट आए तब तक वह उनके घर चल कर रहे। जब लड़की इस बात पर राज़ी न हुई तब उनमें से एक व्यक्ति ने उसे जबरन् पकड़ कर उठा लिया और घर ले जाकर एक कोठरी में बन्द कर दिया। जब वह चिल्लाने लगी तब उन्होंने उसके मुँह में कपड़ा ठूँस दिया। अब्दुलगफ्फ़ार ने उस असहाय बालिका पर बलात्कार किया और बाद को ग्यारह बजे रात को वे लोग उसे बाहर जंगल में ले गए, जहां सुभानभट्ट नाम का एक तीसरा व्यक्ति बुरक़ा लेकर आया और गाड़ी में बिठा कर उसे अपने घर ले गया। वहाँ उसे तरह तरह की धमकियाँ दी गईं और उस पर अत्याचार भी किया गया। आख़िरकार नूरमोहम्मद नामक एक ग्वाले के घर से कुछ हिन्दुओं ने

उसे गुण्डों के पंजों से छुड़ाया। मामला अभी अदालत में पेश है।"

—अभ्युदय १८, जून १९३४

२—"२२ वर्ष की हिन्दू स्त्री सर्कोट (एटा) में कुछ मुसलमानों के चङ्गुल में है। स्त्री उच्च वर्ण और अच्छे घराने की है।"

३—"फिरोजपुर में एक स्त्री के सम्बन्ध में दो दलों में झगड़ा हो गया। फल-स्वरूप आठ-दस आदमियों को चोटें लगीं। एक आदमी की मृत्यु भी हो गई है।"

—आर्यमित्र १८ अक्टूबर १९३४

४—"जबलपुर २९ जून का समाचार मिला है कि एक योरोपियन महिला सिनेमा देखकर वापस आ रही थी, इसके बाद वह किसी नाच में सम्मिलित होने के लिये जा रही थी। कहा जाता है कि तीन नक़ाब पोशों ने उसे ज़मीन पर पटक कर उसके साथ बलात्कार किया।"

—भारत १ जुलाई १९३४

५—"कानपुर जिले के तिरवी नामक ग्राम की एक १४ वर्ष की कुमारी से एक बच्चा पैदा हुआ, जिसे उसने बस्ती से दूर

जाकर फेंक दिया। किसी प्रकार सुराग़ पाकर पुलिस ने कन्या को गिरफ्तार कर लिया और बच्चे को बचा लिया। पुलिस को बयान देते हुए कन्या ने कहा कि मेरा अपने चचेरे भाई से अनुचित सम्बन्ध हो गया था उसी के गर्भ से यह पैदा हुआ है।"

—आर्य मित्र ५ जुलाई १९३४

६—"मालूम हुआ है कि जमींदार बैंक का एक मुसलमान क्लर्क एक हिन्दू सुनार की लड़की को बहका कर अपने मकान पर ले गया। कहा जाता है कि वहाँ लगभग ८ व्यक्तियों ने लड़की से बलात्कार किया। वह बेहोश हो गई। बाद को बेहोश लड़की को ताले में बन्द कर दिया गया। शाम को जब लड़की वापस न आई तो तलाश हुई। पुलिस को सूचना दी गई। क्लर्क का मकान बन्द देखा और क्लर्क को नगर में उपस्थित न पाया तो पुलिस को संदेह हुआ। ताला तोड़ा गया। लड़की मूर्छितावस्था में घर में पाई गई। जाँच के बाद पुलिस ने क्लर्क के आठ साथियों का चालान किया है।"

—आर्य मित्र ५ जुलाई १९३४

७—त्रिपुरा जिले के जगन्नाथपुर से एक १९-२० वर्षीया

युवती सरला वाला के अपहरण और उस पर पाशविक अत्याचार करने की घटना इस प्रकार है गत २० वैसाख की रात के दस बजे शौच करने के लिये वह घर से बाहर गयी वहाँ उस पर तीन मुसलमानों ने आक्रमण किया और उसके मुँह में कपड़ा ठूँस करके जबरदस्ती कुछ दूर कर ले गये। वहाँ पर पहिले से ही तीन चार बदमाश खड़े थे। उन राक्षसों ने छुरा दिखा कर बारी बारी से उस अबला पर पाशविक अत्याचार किया। अन्त में जब वह बेहोश हो गई तब वे उसे उठा कर रहमतअली नामक मुसलमान के घर ले गये। वहाँ ले जाकर भी उन नर पिशाचों ने सरला पर बलात्कार किया। जब उसे होश हुआ तब उन मुसलमानों ने उसे मुसलमान धर्म-ग्रहण करने का प्रलोभन दिया और डराया धमकाया। सरला जब राजी नहीं हुई तो फिर उस पर बलात्कार किया गया। रात थोड़ी रह गयी थी तब उन्होंने उसे हुसेनअली नामक एक वृद्ध मुसलमान के घर ले जाकर रख दिया। सरला ने उस बूढ़े को धर्म-बाप कह कर सहायता माँगी पर वह जरा भी नहीं पसीजा, उलटा उसे निकाह कर लेने की सलाह दी। किन्तु वह किसी प्रकार भी राज़ी नहीं होती थी। तब फिर उन

मुसलमानों ने उस अभागिनी पर अत्याचार किया। सरला बेहोश हो गयी। दूसरे दिन उन बदमाशों ने सरला घरवालों तथा पुलिस के भय से सरला को बेहोशी की हालत में ही एक निर्जन स्थान में रख दिया। होश आने के बाद सरला अपने घर लायी गयी। उसने उक्त घटना को यूनियन बोर्ड के प्रेसीडेण्ट को सुनाया। पुलिस को खबर दी गयी। अभी तक केवल एक ही आदमी गिरफ्तार हुआ है। बाकी सब छिपे हुए हैं।

—आर्य मित्र ५ जुलाई १९३४

८—"बम्बई में २९ जून १९३४ को डा० बी० एस० मुंजे के सम्मानार्थ चाय की दावत में शरीक हुये, गोलमेज परिषद् के सदस्य श्री एम० आर० जयकर ने अपने भाषण में कहा— "हिन्दू-विधवाओं के मुसलमान होने के सम्बन्ध में मेरे पास आँकड़े हैं, उनके अनुसार मैं यही कह सकता हूँ कि प्रायः ३० हिन्दू स्त्रियों को नित्य इसलाम धर्म स्वीकार कराया जाता है। गत दो सप्ताहों में ११ हिन्दू स्त्रियों को इस्लाम धर्म स्वीकार कराया गया है। बम्बई प्रान्त में हिन्दू स्त्रियाँ उड़ाई जाती हैं। हिन्दू स्त्रियों की जब ऐसी दुर्दशा है तो उनकी रक्षा के लिये संरक्षक अवश्य बनने चाहिये।"

यह तो हुई अशिक्षित और असभ्य समाज की बातें जिनकी बर्बरता से देश में हाहाकार मचा रहता है। इन बेचारी महिलाओं के लिये सब ओर से आफतें ढहाई जा रही हैं। सह-शिक्षा को स्वीकार करने वाले चक्षु-विहीन महानुभावों को इस ओर दृष्टि डालनी चाहिये कि एक परिवार में पला और भाई तक बहिन को आसानी से अपने वश में करके नारकीय तथा जघन्य कृत्य कर सकता है। फिर विभिन्न परिवारों में पली हुई अन्य स्त्रियों के विषय में उसके समीप कैसे विचार उत्पन्न हो सकते हैं?

शिक्षित-समाज की ओर यदि आप दृष्टि डालेंगे तो उन्हें भी इन अशिक्षितों के सदृश ही जघन्य कृत्यों को करते हुए देखेंगे। वे भी इन दुष्कर्मों में उसी प्रकार रत रहते हैं जिस प्रकार यह अशिक्षित समाज है। परन्तु शिक्षित द्वारा किये गये जघन्य और बर्बर कार्य प्रायः बुद्धिमान् पुरुषों की नीतियों के द्वारा शान्त कर दिये जाते हैं, जो समाचार पत्रों के द्वार खटखटाने से वंचित रह जाते हैं। कितने ही हाई स्कूलों के सम्बन्ध में चर्चायें सुनी जाती हैं। बोर्डिङ्ग हाउसों में रहने वाली भोली भाली छात्रायें इन नर पशुओं का शिकार होकर प्रतिवर्ष अनेकों

भ्रूण हत्यायें करती हैं। वे इस निर्दय कृत्य के लिये विवश की जाती हैं। अतः इस प्रकार के विषम समस्या का एक मात्र कारण स्कूलों का उचित नियंत्रण और धार्मिक-शिक्षा का न होना ही है।

कुमारी शकुन्तला बी० ए० हिन्दी प्रभाकर ने पहली मई १९३४ की सुधा में लिखा है:—

"पंजाब प्रांत की राजधानी लाहौर जो शिक्षा का केन्द्र माना जाता है आज निर्लज्ज लौडों का डेरा बन रहा है। प्रतीत होता है, इनके घर में न किसी के बहन है न माता, ये दूसरों की बहन बेटियों का धर्म-भ्रष्ट करने के लिये सदा उतारू रहते हैं। माता-पिता से कहते हैं, हम शिक्षा प्राप्त करने जा रहे हैं परन्तु समझ में नहीं आता कि वे यहाँ किस प्रकार की शिक्षा पाते हैं, जो न तो उन्हें अपने सहपाठियों को भाई और न सह-पाठिकाओं को बहन समझना सिखाती है।.................. स्कूल तथा कालेज से छुट्टी पाते ही लड़कियों की संस्थाओं के सामने धरना देकर बैठ जाते हैं, किसी पर दृष्टि डाली, किसी से मसखरी की। किसी पर आवाजा कसा!..........................

गत दिवाली के पर्व पर और इससे एक रात पहले अनार-

कली बाज़ार में जो घटनाएँ हुईं, उनसे जनता की आँखें खुल जानी चाहिए। यह उन लोगों की करतूतें हैं, जिनको भारत-माता की भावी आशाएँ कहा जाता है।............................

कहा जाता है, जिन ताँगों पर स्कूलों और कालेजों की लड़कियाँ तथा स्त्रियाँ बैठी थीं, उनके पीछे ये कालेजियट कुत्ते इस प्रकार लगे रहे जिस प्रकार बुली कुत्ता शिकार के पीछे रहता है—कइयों का साहस तो यहाँ तक बढ़ा कि उन्होंने स्त्रियों को ताँगों पर से घसीट लिया और उनके कपड़े फाड़ डाले.............

........................कई बदमाशों ने स्त्रियों की मोटरों को चारों ओर से घेर कर उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया; फिर अश्लील वचन बोलते हुए ताली बजाने लगे। चारों ओर इस प्रकार हाहाकार मच रहा था, मानो वहाँ पागल कुत्ते आ गए हों। कोई लड़कियों पर आवाज़ें कस रहा था, कोई कंधे मार रहा था, कोई वस्त्र खींच रहा था तो कोई चुटकियाँ काट रहा था।

....ये थे नई रोशनी के नवयुवक कालेजों के पढ़े लिखे शूटेड बूटेड जेंटिलमैन! ये वही थे जो शिक्षा की डींग मारते हैं।...................

लड़कियों की मोटरों और गाड़ियों में कंकड़ फेंकते हैं। बारूद

से भरे हुए पटाखे छोड़ते हैं। कांचों और दर्वाजों तक को तोड़ डालते हैं। लड़कियों की बाहें तक पकड़ कर घसीटते हैं ये हैं इन नराधमों की सभ्यता और शिष्टता।

लड़कियों को नाम के लिये स्वतंत्रता है, परन्तु वास्तव में तो यह कहीं भी खेल कर अपना समय नहीं बिता सकतीं। जब कभी लड़कियाँ रावी में नाव की सैर करने जाती हैं तो बहुत से शैतान अपनी नाव को उनकी नाव के साथ टकराते और एक दूसरे से ऐसे अपशब्द करते हैं कि सुने नहीं जाते।"

इस प्रकार ऐसे बहुतेरे समाचार उद्धृत किये जा सकते हैं, परन्तु इन उपर्युक्त उद्धरणों के देने का मेरा प्रयोजन यह है कि आज कल जो विलासी इच्छाओं का बहुतायत से प्रसार है उसका कारण बाल्यावस्था से ही उनमें सदाचार की भावना का न भरना और साथ ही इसके निषेध रूप उचित ताड़ना का न होना ही है। प्राचीन काल की यह पद्धति थी कि युवावस्था के होते होते उनकी अंतरात्मा में यह बात बैठाल दी जाती थी कि पत्नी के सिवा पराई पत्नियों की ओर दृष्टि रखना घोर पाप है। इससे मनुष्य की दृष्टियों में लज्जा का समावेश रहता था। समझदार पुरुष स्त्रियों की ओर दृष्टि नहीं रखते थे। आरंभ में दिये

गये मनु के श्लोक की दूसरी पंक्ति में इसी बात की चर्चा है। जिससे प्रभावित होकर मनुष्य सर्वदा सदाचार को अपना अंग बनाते थे।

मनु लिखते हैं:—

गुरुवत्प्रति पूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।

मनु० २—२१०

सवर्णा (समान आयु वाली) गुरु की स्त्री की गुरु के समान पूजा करनी चाहिये।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रिय ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

मनु २—२१५

माँ या बहिन या लड़की के साथ भी एकान्त स्थान में न बैठे, क्योंकि अति बलवान् इन्द्रियों का गुण, विद्वान् पुरुष को भी खींच सकता है। अतः इसीलिये उपदेश है:—

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्ण विंशतिवर्षेण गुण दोषौ विजानता ॥

२—२१२

पूर्ण २० वर्ष का युवक शिष्य गुण दोष का जानने वाला युवति गुरुपत्नी को पैर छूकर नमस्कार न करे अर्थात् दूर से भूमि पर प्रणाम कर ले ।

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबंधा च योनितः ।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥

म० २—१२९

जो परस्त्री हो उसे सुभगे या बहन कहकर संभाषण करे ।

वर्तमान काल में इन बातों की चर्चा कहाँ । यही कारण है कि युवक मनुष्य इनके सहयोग में पड़ कर, गुण दोष से अनभिज्ञ, अपने आपको विषयी और लम्पट बना डालता है । संसर्ग से निरन्तर इच्छायें प्रबल होती जाती हैं । यहाँ तक कि वे पर-पत्नियों में भी आनन्द लूटने का दृढ़ संकल्प कर उठते हैं । ऊपर दिये गये उद्धरण इसी बात की ओर संकेत करते हैं । प्रयोजन यह कि धीरे धीरे वे अपने अत्याचारों का नंगा नृत्य संसार के सामने रख देते हैं ।

यह चित्र जिसका चित्रण ऊपर कराया गया है । पुरुषों तक ही सीमित नहीं है । स्त्रियाँ भी इन पुरुषों की लम्पटता

का शिकार होकर लम्पट बन जाती हैं। उनको भी विषय भोग में बड़ा आनन्द आता है। धीरे धीरे उनकी लम्पटता का प्रसार प्रबल होकर वेश्या गृह का निर्माण कर जाता है, जिससे और अन्य अनेकों पुरुषों का नित्य सर्वनाश होता है। अतः इस सम्बन्ध में कोई एक ही दोषी नहीं। दोषी दोनों ही प्रतीत होते हैं। स्त्री के समीप पुरुष और पुरुष के समीप स्त्री। यहाँ तक कि छोटी छोटी बालिकाओं में भी इस प्रवृत्ति के होने की सूचना मिली है। भारत ४ जुलाई १९३४ से हम इस सम्बन्ध में एक उद्धरण यहाँ देते हैं:—

"बनिया पराट मुहल्ले में बड़ी नाम की एक लड़की एक ६ वर्ष के बच्चे को अपने कमरे में ले गई उसने उसे अपनी गोद में बैठा लिया। लड़की द्वारा किये गये कामों का ज़िक्र लड़के ने अदालत के सामने सुनाया। लड़के को जब पीड़ा हुई तो वह चिल्लाया। बहुत से लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। बाद में लड़का अपने पिता के समीप दौड़ गया। पिता ने उसका इलाज डाक्टर द्वारा कराया। ३२३ ताज़ीरात हिन्द के अनुसार मजिस्ट्रेट ने उस लड़की के नाम सम्मन जारी किया है।"

इन्हीं कतिपय आपत्तियों को प्रारंभ से ही दूर रखने के लिये मनु का यह उपदेश मनुष्यों के लिये था। यह चित्त को विरक्त करने के लिये पहली सीढ़ी है। इस आधार पर विरक्त चित्त को ही सामर्थ्य हो सकेगा कि वह ब्रह्मचर्य जैसी कठिन वस्तु को धारण कर सके। ब्रह्मचर्य को धारण करना कोई साधारण खेल नहीं है।

यह जान लेने मात्र से कि स्त्री में यह गुण है कि मनुष्य के विचार दूषित हो जाते हैं तो हमारा कर्तव्य (अर्थात् बचपन से ही ऐसा स्वभाव बनाया जाता था कि उनमें वे प्रमत्त नहीं होते थे) हो जाता है कि हम उनके बीच में अधिक न बैठें। केवल यही बात नहीं, इस विषय में राजाओं के द्वारा कड़े कड़े दंड की व्यवस्था थी। जिनका अलग भय दिलाया जाता था। जिससे मनुष्य बाल्यकाल से ही अपनी ऐसी भावना बनाने लगता था जो सर्वदा उनको सज्जनता को प्रदर्शित करती थी। हम अपने इस विचार की पुष्टि में रामायण काल का चित्र अंकित करते हैं। जो 'चाँद' के नारी आंदोलन अङ्क में प्रकाशित श्री रामदास जी गौड़ एम० ए० के लेख से लिया गया है।

"जनक की नगरी में भी प्रजाजन की साधारण युवतियाँ इन लड़कों के सौंदर्य पर लुभा जाती हैं। परन्तु सीता जी के लिये ही इनको चुनती हैं। वहाँ पर्दे की चरचा नहीं है। परन्तु राजकुमारों की निगाहों में ही गजब का परदा है।"

अतः आरम्भ में दिया गया श्लोक इसी प्रयोजन को व्यक्त कर रहा है कि ब्रह्मचारी कों इनकी ओर दृष्टि न डालें। यह सच बात है आँखों का परदा ही स्त्री के सतीत्व और पुरुष के एक पत्नीव्रत की रक्षा कर सकता है।"

शिक्षा का रूप

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथा क्रमम् ।
अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥

मनु ३—२

"मेरा दृढ़ विश्वास है कि स्त्रियों को मानवी कार्य-क्षेत्र के प्रत्येक अङ्ग की उत्तम से उत्तम शिक्षा मिलनी चाहिये और उन्हें इस योग्य बनाना चाहिये कि वे सभी पेशों और क्षेत्रों में सफल कार्य कर सकें।"

—जवाहरलाल नेहरू

प्राचीन काल की शिक्षा पद्धति क्या थी ? इसे ठीक ठीक प्रकार जानना तो तनिक टेढ़ी खीर है। किन्तु हाँ, यह अवश्य है कि लोगों ने उसकी छाया तक पहुँचने का पर्याप्त प्रयत्न किया है। इस संबन्ध में वे जो कुछ भी अनुभव किया जा सका है,

उसी का यह परिणाम है जो हमारे सामने उंगलियों पर गिने जाने योग्य गुरुकुलों (शिक्षणालयों) की स्थापना हुई है। परन्तु फिर भी लोगों ने यह ज्ञान अभी तक नहीं प्राप्त कर पाया है कि शिक्षा किस रीति से दी जाती थी। यद्यपि दृष्टि फेंकने से गुरुकुलों का महत्त्व बहुत कुछ समझ में आता है और यही कारण है कि हमारे देश के विद्वान् और अविद्वान् ही नहीं अपितु विदेशीय विद्वान् और उच्च पदस्थ पदाधिकारी तथा अन्य सभी लोग गुरुकुल प्रणाली को श्रेष्ठ बताते और इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। इसकी पुष्टि के लिये हम कुछ उद्धरणों का सहारा लेंगे:—

मिस मियो की 'मदर इण्डिया' पुस्तक के उत्तर में लिखी हुई 'फादर इण्डिया' में श्रीयुत रंगाअय्यर ने पृष्ठ ७६ में लिखा है:—

"..............................वास्तविक राष्ट्रीयता की शिक्षा देते हैं। इस बात को उनके समालोचक भी स्वीकार करते हैं कि असहयोग के दिनों में खुले हुए क्षणिक अस्थायी राष्ट्रीय स्कूलों से वे बिलकुल भिन्न हैं। वे सच्ची शिक्षा संस्थायें हैं।"

संयुक्त-प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष माननीय

सर सीताराम जी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली पर निम्न शब्दों में अपने उद्गार प्रकट करते हैं:—

"गुरुकुल ने कुछ तो संजीवन बूटी का काम किया है और संस्कृत प्रचार में सहायता दी है, नहीं तो शनैः शनैः सर्वनाश हो रहा था।" इसी प्रकार अन्य भारतीयों ने भी अपनी सम्मति प्रकट की है।

"बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर लार्ड रोनेल्डासे ने विलायत पहुँच कर "भारत का हृदय" नामक पुस्तक लिखी है, उसमें भारतीय नवीन जागृति के मूल कारणों में तीन विशेष शिक्षा संस्थाओं का उल्लेख किया है। जिनमें १—गुरुकुल २—बालपुर का शान्ति निकेतन और ३—महात्मा गांधी का साबरमती आश्रम है। उनकी सम्मति में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ही अन्य दो संस्थाओं का आधारं भूत है। वे तो उसके अनुकरण मात्र हैं।......................................"इसी बात को स्वीकार करते हुए सरसैडलर ने अपने एक लेख में जो लाहौर के ट्रिब्यून में ६ मार्च १९२७ के अङ्क में प्रकाशित हुआ है। कहा है कि—"देशी भाषाओं के द्वारा शिक्षा देने में गुरुकुल पूर्ण रूप से सफल हुये हैं।"

सन १९१४ ई० में मिस्टर रैमजे मेकडानेल्ड जो इस समय भारत के प्रधान मंत्री हैं गुरुकुल कांगड़ी पधारे थे। उन्होंने गुरुकुल के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य देते हुये कहा था:—

"लार्ड मैकाले के पश्चात् शिक्षा के इतिहास में अगर कोई सबसे महत्त्व की बात हुई है तो वह गुरुकुलों का संचालन है।"

इसी प्रकार अमेरिका के मिस्टर फैलप्स ने लिखा है कि "केवल गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ही भारतीय जीवन की झलक दिखाने वाली एक-मात्र प्रतिनिधि संस्था है।"

यह तो हुई वर्तमान व्यवस्थित गुरुकुलों की प्रशंसा की बात जो कि विदेशीय विद्वानों ने की है। परन्तु बात यहीं तक नहीं समाप्त हो जाती अपितु यह गुरुकुल प्रणाली अब पाश्चात्य लोगों को भी बाध्य कर रही है कि वे तदनुरूप शिक्षा संस्थायें खोलें भारत में तो इनका अनुकरण इतना ज़ोरों से बढ़ा कि विभिन्न संप्रदायवाद के नाम पर जैसे, सनातनियों के "ऋषिकुल" और जैनियों के "जैन गुरुकुल" खुल गये। किन्तु अब तो पाश्चात्य लोग इसका अनुकरण क्रियात्मक रूप

से करने लगे हैं। गत वर्ष हालैंड में योरप के शिक्षा शास्त्रियों की जो सभा हुई थी उसमें आश्रम प्रणाली को विशेष महत्त्व देते हुए एक प्रस्ताव पास किया जा चुका है। जर्मनी और स्वीटजरलैण्ड आदि देशों में ऐसे आश्रम स्थापित हो चुके हैं। सन् १९२८ के २१ अक्टूबर के गुजराती "नवजीवन" में श्री एण्डरूज महोदय का एक लेख "ऋषि आश्रम' के नाम से निकला है। जिसमें जर्मनी के पोरवर्ग नगर में आचार्य "ओटो" जो बाल ब्रह्मचारी हैं और जिन्होंने अपना समस्त जीवन वेदों के लिये अर्पण कर रक्खा है, उनके आश्रम का वर्णन किया गया है। यही नहीं कि वे आश्रम प्रणाली को ही श्रेष्ठ समझते हों किन्तु हमारे गुरुकुलों के नियमों पर भी जो ब्रह्मचारियों के लिये विहित हैं, सर्वतो भावेन् लट्टू हो रहे हैं, जैसा कि जर्मनी के प्रोफेसर एडोल्फ जस्ट ने अपनी पुस्तक 'रिटर्न टूनेचर' में बड़े जोरों से सिद्ध किया है। पुस्तक के पृष्ठ ६९ पर वे लिखते हैं—"घर बाहर सब जगह नंगे पैर चलना अत्यन्त श्रेयस्कर है।" इसी प्रकार आजकल के फैशन का विरोध करते हुये, पुस्तक के पृष्ठ ७३ पर उन्होंने सिर पर टोपी आदि न लगाने और छतरी न धारण करने की प्रशंसा

की है। यही तो हमारे ब्रह्मचारियों के लिये आदेश दिया जाता है। न वे जूता पहनें, न टोपी और न छत्र धारण करें और न फैशन में रहें। यह है हमारी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की विजय, जिसके सम्मुख न केवल देश के अन्य मतावलम्बी और न केवल भारत के महापुरुष महात्मा गांधी और रवीन्द्र नाथ टैगोर किन्तु योरप और अमेरिका के महान् शिक्षा विशेषज्ञ भी नतमस्तक हो रहे हैं। अस्तु—

इसीलिये भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता में स्थित आदर्श गुरुकुलीय शिक्षा ने आज से सहस्रों वर्ष पूर्व ही अनेकों भारतीय देवियों को मूर्त्तिमान करके संसार के सामने रख दिया है। जिनका नाम लेते हुए गर्व से मस्तक ऊँचा हो उठता है। संसार के बड़े से बड़े सभ्य देश के सभ्य होने से पहले ही सभ्य होने की हम घोषणा कर देते हैं। हमारी इस विचार-धारा का संसार धीरे धीरे कायल हो रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारत की स्त्रियाँ गणित-शास्त्र, नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, अस्त्र-शास्त्र, गार्हस्थ-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र आदि सभी विषयों में उच्च-शिक्षा प्राप्त करतीं थीं। जिनके अनेकों नाम आज इस करोड़ों वर्ष के व्यतीत होने के पश्चात् भी हमें उपलब्ध होते हैं।

परन्तु अर्वाचीन पश्चिमीय शिक्षा के विधायकों ने अभी तक अपनी शिक्षा के आदर्श को इस प्रकार मूर्तिमान करके विश्व की जनता के सम्मुख नहीं रख पाया है। साहित्य संसार में भी इनको कोई स्थान नहीं। अर्वाचीन वादियों के सिद्धान्त और आदर्श अभी गगन मण्डल में चक्कर लगा रहे हैं।

समाचार पत्रों में नवीन सुधारकों के बताये हुये आदर्शों के आधार पर तथा सरकार द्वारा निर्धारित पद्धति पर हम अपनी कन्याओं को आज कल शिक्षा दे रहे हैं। किन्तु इस बात में सभी को संदेह है कि इस नवीन पद्धति के अनुकरण से भारत का भावी राष्ट्र निर्माण कार्य और संसार की सुख पूर्वक यात्रा शायद ही पूर्ण हो सके।

आधुनिक सुधारवादियों की यह धारणा है कि बालक बालिकाओं को एक साथ शिक्षा दी जाये और दोनों की शिक्षा पद्धति एक हो। परदा प्रथा का निशान न रहे। स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री स्वतंत्रता पूर्वक मिल सकें। आफ़िसों में, कारखानों में, वकालत और डाक्टरी करने तथा समस्त व्यवसाय और व्यापारों में स्त्रियों को समान स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिये। इन्हें राजनीतिक अधिकार हो। स्त्री अपने पति से जुदा हो अपनी इच्छा

पूर्वक दूसरा विवाह कर सके। उसे अपनी निजी सम्पत्ति को स्थापित करने का अधिकार दिया जाय। भारतीय कट्टर पंथी इन विचारों के विरुद्ध हैं। उनकी तुरही समय समय पर बज उठती है। उनका कहना है "स्त्री शूद्रौ न धीयताम्" स्त्री शूद्र शिक्षा के योग्य नहीं। कुछ शिक्षा के भी कायल हो गये हैं। मगर वह रामायण, सुखसागर और प्रेमसागर तक ही सीमित है। वे इन्हें परदे में ही रखने पर जोर देते हैं। माता-पिता, पति और पुत्र की जीवन भर गुलामी करते रहने का आदेश देते हैं। आर्थिक स्वतंत्रता या राजनीतिक अधिकार तो स्वप्न का चित्र है। इससे वे भारत का सर्वनाश हो जाने की कल्पना करते हैं।

इस प्रकार इन कट्टर पंथियों और सुधार वादियों का संघर्ष स्त्री शिक्षा और स्त्री-समाज सुधार के सम्बन्ध में बहुत वर्षों से चल रहा है। इन दोनों में सत्य पर कौन है? इसी का यहाँ निष्कर्ष निकाला जायगा। किन्तु इस विषय में भगवान् बुद्ध के अनुभव सिद्ध सिद्धान्त यह हैं कि मध्य का मार्ग सत्य का मार्ग है।

मनु ने शिक्षा विषय में स्त्रियों के पाठ्य ग्रन्थों और पुरुषों के पाठ्य ग्रन्थों में अन्तर नहीं रक्खा है। वे कहते हैं प्रत्येक

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी क्रम से १ वेद या २ वेद या तीनों वेदों का अंग उपांगों सहित पारायण करें। इसके अनन्तर वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें। सचमुच, राजनीति, धर्म, चिकित्सा, अर्थ-शास्त्र और विज्ञान की पूर्ण शिक्षा प्राप्त स्त्री संसार में अपनी जिस कीर्ति को स्थापित कर सकती है। वह चिरकाल तक दृढ़ और अखंड रहेगा। क्रम से ९ वर्ष या १८ वर्ष या ३६ वर्ष पर्यंत ब्रह्मचर्य को धारण किये हुई स्त्री हृष्ट पुष्ट उत्तम संतान उत्पन्न करने योग्य और असीम साहस से युक्त होगी। यही कारण है कि लोगों की दृष्टि में गुरुकुल प्रणाली उपयोगी और उत्तम सिद्ध हुई है।

यह तो ठीक है कि स्त्री और पुरुषों का पाठ्य ग्रन्थ एक ही होना चाहिये। अन्यथा स्त्री पुरुष को जैसे उसकी आवश्यकता होगी मदद ही कैसे दे सकेगी ? फिर मनु के इस श्लोक का आशय ही क्या लिया जायगा ? जिसे वह गुरुकुल से निकलने के पश्चात् स्नातक को गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के समय कहते हैं :—

"उद्वहेत् द्विजोभार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥"

मनु० ३—४

द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने अपने समान लक्षणों वाली कन्या के साथ विवाह करें।

हमारे पुराण पंथी समान लक्षणों को अच्छे प्रकार नहीं विभक्त करते। उनके समान लक्षणों के विभक्त करने की पद्धति ही बड़ी निराली है। यदि वे ब्रह्मचारी के प्रत्येक लक्षणों से ब्रह्मचारिणी की तुलना करने की पद्धति का आविष्कार करदें तो झगड़ा साफ़ हो जाता है। आधुनिक सुधारवादियों के विचार का भी पूर्णतया समर्थन हो जाता है, अन्यथा इस लड़ने झगड़ने में ही दिन कटेंगे और भारत की उन्नति में हाथ नहीं बंटाया जा सकता।

हम ऊपर यह बता आये हैं कि स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में आधुनिक सुधारवादियों और कट्टर पंथियों में भारत के बीच संघर्ष चल रहा है। ये दोनों परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध हैं। अतः इसका निष्कर्ष निकालने के लिये हमें दोनों की शिक्षा पद्धति के परिणाम पर दृष्टि डालनी होगी और महात्मा बुद्ध के आदेशानुसार मध्य का मार्ग खोजना होगा। इस आधार पर हम यहाँ पहले पश्चिमीय शिक्षा पद्धति के विभक्त रूप पर दृष्टि-पात करेंगे। साथ ही आधुनिक सुधारवादियों की सह-शिक्षा

के सम्बन्ध में प्राप्त हुई दलीलों पर विचार करेंगे। पाठक-वर्ग देखें कि भारत को आदर्श की ओर ले चलने में कौन विशेष सहायक हैं। यहाँ हम स्त्री-पुरुष की शिक्षा सम्बन्धी मनु के विचारों का उद्धरण देकर मध्य का मार्ग खोज निकालेंगे जो संसार की दृष्टि में स्थान पायेगा। ऐसी हमें आशा है।

यह तो सभी समझते हैं कि इस समय भारत की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। सहस्रों प्राणी अन्न बिना नित्य प्रति प्राण समर्पण करते देखे जाते हैं। सहस्रों जीविका के लिये मारे मारे फिरते देखे जाते हैं। सहस्रों बड़ी बड़ी आशायें लेकर शिक्षा पा रहे हैं। उनके माता पिता भी अपने पुत्रों और पुत्रियों की शिक्षा अपने उज्वल भविष्य की आशा की कल्पना करके घर द्वार विक्रय कर अथवा धनाढ्यों से ऋण लेकर दिला रहे हैं। वे सोचते हैं हमारा पुत्र या हमारी पुत्री पढ़ लिख कर पर्याप्त आय करेगी जिसके परिणाम स्वरूप हमारा और हमारे सम्बन्धी दोनों का गृह उज्वल और सुख की सामग्री से परिपूर्ण हो जायगा। परन्तु होता क्या है? इसका अनुभव आज भारत निवासी भली भाँति कर रहे हैं।

हमारे साधारण गृहों की लड़कियाँ जब आरम्भ में आधु-

निक पद्धति से निर्माण किये हुए शिक्षणालयों में शिक्षा पाने के निमित्त प्रवेश करती हैं, वहाँ देखती हैं कि अन्य आई हुई लड़कियाँ किस्म किस्म की वहुमूल्य सुन्दर सुन्दर साड़ियाँ धारण किये हुये हैं। उनकी अलकावलियों में वहुमूल्य आकर्षणकारी ढंग से फिलिप शोभा दे रहे हैं। साड़ियों को चुनकर सेफटीपेनों के सहारे उसके आकर्षण को दिन दूना और रात चौगुना वनाया गया है। मुख में पाउडर पेन्ट है। ओष्ठ लिपैस्टिक द्वारा लाल और चमकदार किये गये हैं। वे भी धीरे धीरे उनके सहयोग में रह कर उनके सिंगारों पर रीफ जाती हैं और अपने माता पिताओं को ऐसे ही खर्चीले ढंग से अपना सिंगार करने को विवश करती हैं। इस तरह ओढ़ने पहनने में ही पर्याप्त व्यय की नौबत आ जाती है।

यह तो हुई उनकी सिंगार और वेष भूषा सम्बन्धी बातें जिसको सुनकर लोग कहेंगे कि वाह! तुम्हें सूफ भी पड़ा तो उनका सिंगार और उनका ओढ़ना पहनना, परन्तु नहीं। हमको इस सम्बन्ध मे सोचना चाहिये और उनके भावी जीवन को उत्कृष्ट वनाने की ओर दृष्टि डालनी चाहिये। यह हाव-भाव और सिंगार भावी जीवन को उत्कृष्ट निर्माण करने में सर्वांशतः

बाधक हैं। क्योंकि यह प्राकृतिक सौंदर्य को उपलब्ध करने के लिये बाध्य करते हुए नहीं प्रतीत होते। विभिन्न शृङ्गारों से युक्त कन्या न कभी व्यायाम करने के समीप जायगी न व्यायाम करने में वह सफल हो सकती है। वह तो कृत्रिम सौंदर्य से प्रेम करती है। वही उस को सुन्दरी बनाने के लिये उसके निकट श्रेष्ठ हैं।

ऊपर मैंने जो पश्चिमीय शिक्षा-पद्धति के अन्तर्स्थित विद्यार्थियों की वेष-भूषा और उनके रहन-सहन पर आपत्ति की है, वहां मेरा यह प्रयोजन नहीं है कि वे स्वच्छ निर्मल वस्त्रों का प्रयोग न करें। स्वच्छ वस्त्र उनके भावी-जीवन में बाधक नहीं हैं। बाधक तो विभिन्न प्रकार की आकर्षणकारी सजावट है। सजावट से विलासिता की सृष्टि प्रारंभ हो जाती है। उनका भावी-जीवन आकर्षण-प्रेमी होकर विलासी और इन्द्रिय-लोलुप हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप कालान्तर में वे न घर की रहती हैं, न घाट की। प्रयोजन यह कि उनसे न समाज का काम होता है, न देश का और न वे अपने जीवन को और आगे विद्योपार्जन में ही लगा सकती हैं। इसका कारण उनका जीवन कृत्रिम सौन्दर्य का प्रेमी होकर स्वास्थ्य-कर नहीं रहता है। इस तरह

की उनकी अवस्था होने से न तो वे बच्चों का लालन-पालन ही भली भाँति कर सकती हैं, न धनोपार्जन के कार्य में ही संलग्न हो सकती हैं। अतएव इनकी युवावस्था में ही भार-रूप माता-पिता, सास-श्वसुर के साथ इनका भी जीवन भार-रूप रहता है। यह स्थिति कुछ स्त्रियों की ही नहीं, पुरुष समाज तो इनसे बहुत ही आगे बढ़ा हुआ है।

इन्द्रिय-लोलुपता और विषय-वासना को अधिक स्वतंत्रता से प्रकट करना। स्त्रियों का मदिरा पीना और उन्मत्त होकर पर-पुरुष के साथ रमण करना, सिगरेट पीना, अपने यार दोस्तों के कमर में हाथ डालकर मार्ग चलना, वस्त्रों को और अपने शरीर को इस तरह सजाना कि जिससे अनेकों नवयुवकों की दृष्टियों में विद्युत् शक्ति दौड़ जाय। यही पश्चिमीय सभ्यता है जो आज समाज-सुधार का अंग बन रहा है।

हम ऊपर बता आये हैं कि न तो वे घर की रहती हैं, न घाट की। उनका जीवन इन्द्रिय-लोलुप और विषय-वासना में फँसकर विभिन्न पुरुषों के संपर्क में रमण करने वाला हो जाता है। साथ ही बुरा यह कि वे बाहर से प्रकट करती हैं कि मैं विवाह करना उपयुक्त नहीं समझती। इसलिये कि वह एक बंधन है, परन्तु

विवाह बंधन है अथवा नहीं ? इस पर आगे के प्रकरण में विचार किया जायगा। यहाँ तो पश्चिमीय शिक्षा से प्रभावित होकर जो कन्याएँ अपने विचारों को उच्छृङ्खल और स्वेच्छापूर्ण बना लेती हैं उनका दिग्दर्शन कराया गया है। पश्चिमीय शिक्षा का जो लाभ या परिणाम होता है वह बतलाया गया है। इस प्रकार की स्त्रियाँ योरप में ही नहीं, बहुतेरी भारत में भी पाई जा रही हैं।

सौभाग्यवश अभी भारत में स्त्री-शिक्षा का अभाव होने के कारण शिक्षित स्त्रियों की संख्या इतनी पर्याप्त मात्रा में नहीं है कि वे पढ़ लिखकर घर में बेकार बैठी रहें और उनके सामने आर्थिक कठिनाई की समस्या मौजूद हो। वे प्रायः पढ़ लिखकर नौकरी पा ही जाती हैं। परन्तु जब स्त्री-शिक्षा का पर्याप्त प्रचार हो जावेगा और शिक्षिता स्त्रियों की संख्या अधिक से अधिक हो जावेगी तो इनके सम्मुख भी वही समस्या मौजूद होगी। जो आज पुरुष-वर्ग के सम्मुख मौजूद है।

भारत का शिक्षित-पुरुष-समाज आर्थिक-संकट-ग्रस्त है। उसे नौकरी नहीं मिलती। इसलिये कि वह बाबूगीरी के लिये ही लालायित है। परन्तु आफ़िसों में बाबुओं की आवश्यकता

नहीं है। परिणाम क्या होता है। बेकार बैठे हैं। इस पर भी पास में पैसे न होने पर भी वे चाहते हैं कि रहूँ मैं उसी दशा में जिस दशा में विद्यार्थी-जीवन कटा है। उनके छोटे-मोटे कार्य भी नौकरों पर आश्रित रहते हैं। इस तरह वे अपने जीवन को एक महान् संकट में डाले बैठे हैं। ठीक यही स्थिति आधुनिक शिक्षा-पद्धति से संस्कृत की गई स्त्री की भी होगी। इसका कारण अपनी पैतृक सम्पत्ति का ठुकराना है।

हमारी पैतृक सम्पत्ति क्या है? हमने उसे किस प्रकार ठुकराया है? यह बातें बड़ी आसानी से समझी जा सकती हैं। आफ़िसों पर ही निर्भर होकर रहना हमारी प्रधान मनोवृत्ति न होनी चाहिये। डाक्टरी वकालत, प्रोफ़ेसरी को लक्ष्य में रखकर ही हमें शिक्षा न प्राप्त करनी चाहिये। हमारी दृष्टि उद्योग धंधों की ओर भी होनी चाहिये। इसकी शिक्षा भी अन्य शिक्षाओं की भाँति ही मिलनी आवश्यक है। परन्तु इससे क्या? फैशन का भूत तो भारत के घर-घर और कोनों-कोनों में स्थान पाता जा रहा है। शिक्षित व साधारण शिक्षित और अर्द्ध-शिक्षित सभी इस फैशन में डूबे जा रहे हैं। जिसके कारण इन्द्रिय-लोलुपता और वासनाओं का ज़ोरों से प्रसार हो रहा है। यही दशा

कन्याओं की है। वे भी निरन्तर फैशन को अख्त्यार करती जा रही हैं। इन्द्रिय-लोलुपता और वासनाओं का घृणित-पूर्ण विकास उनमें भी हो रहा है। अतः उद्योग धंधों के पतन के साथ २ आचार का भी निरन्तर पतन होकर भारत की आदर्श मर्यादा रसातल को चली जा रही है।

यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों की इन्द्रिय-लोलुपता और वासना-पूर्ण विचारों की बात कोई मिथ्या नहीं है। सुधा के १ मई १९३४ के अङ्क में शकुन्तला देवी ने इसका बड़ा अच्छा चित्र चित्रण कराया है। जिसका उद्धरण 'आँखों का परदा' शीर्षक में दिया जा चुका है। अतएव यह निश्चित है कि इस पश्चिमीय पद्धति से स्त्री और पुरुष किसी एक की भी शिक्षा का होना भारत के लिये कल्याणकारी नहीं।

श्री पं० रामदत्त जी शुक्ल एडवोकेट लखनऊ, आर्य-मित्र के गुरुकुलांक में लिखते हैं:—

"बड़े बड़े विशेषज्ञ मुक्त-कण्ठ से साम्प्रतिक-शिक्षा-प्रणाली को सदोष समझ कर इसको परिवर्तित करने की नेक सलाह देते हैं। हाल ही में मि० मेकेंजी ने जो २६ वर्ष तक शिक्षा विभाग में अनेक पदों पर रहते हुए एतद्विषयक आन्तरिक

अनुभव प्राप्त कर चुके हैं, आगरा विश्व-विद्यालय के वार्षिक-उपाधि-वितरणोत्सव के अवसर पर एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण भाषण दिया। उसमें उन्होंने वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की कड़ी आलोचना की और उसको परिवर्तित करने की सम्मति देते हुए कहा:—

"भारतीय विश्व-विद्यालयों ने अब तक बड़ी सतृष्ण भावना से पाश्चात्य संस्थाओं का अनुकरण किया है। अब समय आ गया है कि वे उस ऋण का शोध करें और समस्त संसार के विश्व-विद्यालयों के अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न को हल करने में अपनी ओर से समुचित योग प्रदान करें, क्या वस्तुतः भारतवासी किसी प्रकार से विश्व-व्यापी शिक्षा-समस्या को सुलझाने में सहायक हो सकते हैं। यदि हाँ, तो किस प्रकार से?"

यही नहीं, वे (शुक्ल जी) आगे और लिखते हैं:—

"वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को भारतवर्ष में स्थापित करने वाले मेकाले महोदय ही हैं। उन्हीं की सम्मति से अंग्रेजी शिक्षा-क्रम इस देश में चलाया गया। मेकाले महोदय ने इस शिक्षा-क्रम के उद्देश्य को प्रदर्शित करते हुये अपने

पिता को एक पत्र सन् १८३६ में लिखा था। उसी में लिखा कि—

"हिन्दुओं पर इस शिक्षा का प्रभाव बड़ा ही अनोखा पड़ रहा है। कोई भी हिन्दू जिसने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर ली है उसकी श्रद्धा अपने धर्म पर नहीं रह जाती। इनमें कुछ तो नीति के रूप में इस धर्म को मानते रहते हैं और कुछ ईसाई मत को भी ग्रहण कर लेते हैं। यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि इस शिक्षा-पद्धति से शिक्षा दी जाय तो तीस वर्ष के अनन्तर उच्च जातियों में एक भी मूर्ति-पूजक न रहेगा। (Consolidation of the Christian power in India *by* B. D. BASU—p. 16)"

"इसमें सन्देह नहीं कि मेकाले का उद्देश्य-पूर्ण हो गया और उसी का यह परिणाम है कि भारतीय शिक्षित समुदाय में अपने धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं जातीयता के प्रति श्रद्धा मानने का प्रायः अभाव है। भला इस शिक्षा-क्रम से यदि कोई विद्याव्रत स्नातक बनाने के स्वप्न देखे तो उससे बड़ा मूर्ख कौन होगा ? इस शिक्षा में आरम्भ से ही धर्म, आचार, ईश्वर, आत्मा और ब्रह्मचर्य को कोई स्थान नहीं दिया गया है। परिणाम यह

हुआ कि शिक्षितों के जीवनों में चरित्रता, आस्था, श्रद्धा, सत्यप्रियता, अध्यात्मिकता, तेजस्विता और आस्तिकता अभाव-रूप में ही शेष रह जाते हैं किन्तु उनके स्थान में मायात्मिकता, अश्रद्धा, चरित्रहीनता, नास्तिकता, असत्यपटुता, पराक्रमशून्यता, निस्तेज, शिथिलतादि के साथ विलास-प्रियता का बाहुल्य है।"

अब चलिये पुराण पंथियों की ओर। इनकी राम कहानी और प्रेम कहानी तक ही सीमित शिक्षा कोई लाभप्रद नहीं। इसलिये कि राम कहानी कह सकने वाली कन्या का मस्तिष्क सर्वथा तर्क-शून्य रहेगा। वह राजनीति की चालों को नहीं समझ सकती। उसमें इतना असीम बल और साहस का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता कि आवश्यकता पड़ने पर वह कुशलता-पूर्वक व्यापार करके अथवा अन्य रीति से धनोपार्जन कर सकने में समर्थ हो। वह दुष्ट बदमाश गुण्डों से भी अपनी रक्षा कर सकने में समर्थ नहीं हो सकेगी। वह साधारण चेष्टा से ही बहकाई जा सकती है। राष्ट्र के उद्धार-कार्य में भी वह इतनी सफलता-पूर्वक भाग नहीं ले सकती, जितनी सफलता-पूर्वक एक विज्ञ-महिला ले सकती है। इसीलिये आवश्यकता प्रतीत हुई कि महिलाओं को उच्च से उच्च-शिक्षा दी जाय

जिससे वे निर्भयता-पूर्वक अपने जीवन को समाप्त करने में हर तरह से उपयुक्त उतरें।

यह ऊपर जो कुछ लिखा गया, वह हुआ आधुनिक-सुधारवादियों और रूढ़िवादियों की शिक्षा-पद्धति पर दृष्टिगत करते हुये उसके निष्कर्ष का चित्रण। अब केवल सह-शिक्षा पर विचार करना और शेष है। जिसके लिये एक स्वतंत्र प्रकरण की आवश्यकता प्रतीत होती है। अतः हम यहाँ मनु की बताई शिक्षा-पद्धति और उसका निष्कर्ष देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे।

मनु की निर्धारित शिक्षा-प्रणाली में रहन-सहन और व्यवहार की सुन्दरता विद्यार्थी-जीवन को शिष्ट और उदार एवं हर तरह की कठिन से कठिन परिस्थिति के मध्य में होकर बिना विघ्न-बाधा के पार होने में सफल सिद्ध है। इसलिये कि वहाँ आकर्षण नहीं है। ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी के स्वभाव को विलासी बनाने वाले किसी प्रकार के सामान का संग्रह नहीं है। ब्रह्मचारी जीवन आज-कल की अपेक्षा शुष्क और नीरस है। उन पर नियंत्रण के साथ इन्द्रिय-लोलुपता का लेश भी नहीं लगने का। यही कारण है कि लोग आधुनिक-शिक्षण-

प्रणाली की अपेक्षा प्राचीन-शिक्षण-प्रणाली को महत्त्व देते हैं। यही नहीं, उसके छाया-रूप वर्तमान गुरुकुलीय-पद्धति को हृदय से प्यार करते हैं।

ब्रह्मचारी की शिक्षा गुरुकुल में किस रीति से प्रारम्भ हो, इस सम्बन्ध में मनु लिखते हैं:—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौ च मादितः।
आचारमग्नि कार्यं च संध्योपासन मेव च॥
अध्येष्यमाणस्त्वा चान्तो यथा शास्त्रमुदङ् मुखः।
ब्रह्मांजलि कृतोऽध्याप्योलघुवासा जितेन्द्रियः॥

म० २—६९, ७०

अर्थात्, गुरु और गुरुआनी प्रथम उपनयन कराकर शिष्य और शिष्या को उपनयन की उपयोगिता को समझा कर, शौच (सफ़ाई) आचार (उसको किस तरह रहना चाहिये), सायं-प्रातः हवन तथा संध्योपासन सिखावें और पढ़ने वाली शिष्या को शास्त्र-विधि से आचमन करके हाथ जोड़ कर, उत्तर मुख हो, हलका वस्त्र पहिन कर जितेन्द्रियता का मार्ग अनुसरण करते हुए शान्ति-पूर्वक अध्ययन को प्रारम्भ करना

चाहिये। इस तरह नित्य वेदाध्ययन के आरम्भ और समाप्ति पर सदा गुरु और गुरुआनी के ससम्मान चरण कमलों का स्पर्श करते हुए सादर नमस्कार करना चाहिये। पुनः पाठ समाप्त होने पर (गुरुकुल में ही जहाँ उसे रहने को स्थान मिला हो) अपने रहने के स्थान में चली आना चाहिये।

आलस्य रहिता गुरुआनी शिष्या को सर्वदा एकाग्रचित्त हो पढ़ने का आदेश करती रहे। वह इन्द्रियों के गुण और दोष का सर्वदा निराकरण कराती हुई जितेन्द्रियता को धारण करने का उपदेश देती रहे। ब्रह्मचारिणी का भी स्वयं कर्तव्य है कि वह इन्द्रिय के गुणों को भली भाँति समझ कर उन पर आधिपत्य रक्खे और अपना जीवन संयमित करके सम्पूर्ण अर्थों को साधे। जिस ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी ने एक वर्ष पर्यंत भी नियम-पूर्वक पवित्र होकर विधियुक्त स्वाध्याय किया है। उसका एक वर्ष का इस प्रकार का नियम-पूर्वक स्वाध्याय उसके आगामी जीवन के स्वाध्याय को सरल और सुगम बना देता है। क्योंकि वह किसी प्रकार की बुरी वासनाओं में नहीं पड़ने पाती। सायं-प्रातः प्राणायाम करने से बुद्धि सर्वदा एकाग्रिता की ओर बढ़ती है और चित्त निर्मल और पवित्र रहता है। इस प्राणायाम

से विद्यार्थी जितेन्द्रियता को धारण करने में सफल होते हैं। इसके अनन्तर उनके लिये भूमि पर शयन करने का विधान है, जिससे शरीर की उत्तेजक नस-नाड़ियों की उत्तेजनोत्पादक शक्ति का सर्वदा संहार होता रहता है। वे विलासिता की ओर न बढ़ कर कठोरता एवं दृढ़ता की ओर अग्रसर होती हैं, जो ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी को निर्भीकता के धारण कराने में सहायक सिद्ध होती हैं।

गुरुकुलों में ब्रह्मचारी को जोरदार शिक्षा दी जाती है कि वह—भवति, सुभगे! भगिनि! कहने का अभ्यासी हो। इसी प्रकार ब्रह्मचारिणी को भी शिक्षा दी जाती है कि वह पुरुषों में भ्रातृ-भाव की आस्था रक्खे। इससे दोनों के विचारों को पवित्र निर्मल बनाने में अत्यन्त सरलता का मार्ग उपलब्ध होता है। जिससे ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी गुरु-गुरुआनी के समीप रहती हुई इन्द्रियों का संयम करके तप की वृद्धि के लिये (कठिन स्वाध्याय-शील स्वभाव बनाने के लिये) निम्न नियमों का पालन करना सीख जाती हैं:—

प्रतिदिन नियम से स्नान करके शरीर को पवित्र करना, देव, ऋषि और पितृसंज्ञक पुरुषों का जलादि से सत्कार करना,

मधु, मांस, गंध, माल्य, अच्छे मधुरादि रस का त्याग करते हुए ब्रह्मचर्य को धारण करना। ब्रह्मचर्यावस्था में तरह तरह के सिंगारों का परित्याग, जूता पहनना, छत्र धारण करना, क्रोध, लोभ, नाचना, बुरे बुरे गानों का गाना, जुआ, झगड़ा, दूसरे की निन्दा यह सब त्यागनीय है। ब्रह्मचारी को स्त्री का दर्शन-स्पर्शन और ब्रह्मचारिणी को पुरुष का दर्शन-स्पर्शन उसके ब्रह्मचर्य को खंडित करने में सहायक होते हैं, इसलिये परस्पर एक दूसरे का दर्शन-स्पर्शन मना है। उनका जीवन एकान्त सेवी ही उपयोगी है। एकान्त सेवन से जितेन्द्रियता में ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी सफल होते हैं।

ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणी का कर्तव्य है कि आचार्य, आचार्यानी को वेद (ज्ञान) की मूर्ति समझे और भ्राता को आत्मा (अपने समान) समझे। इनका सम्मान करने की धारणा सर्वदा चित्त में स्थापित करे।

यह तो हुआ मनु के द्वारा बताये हुये विद्यार्थियों के शिक्षा-स्थान की चर्चा और उनके रहन-सहन, आचार-विचार और व्यवहार के चित्र का चित्रण, अब शिक्षायें किस किस प्रकार की दी जातीं थीं, यह बताना शेष है। यद्यपि संकेत

रूप से प्रारम्भ में ही इसकी चर्चा की जा चुकी है, परन्तु हमारे कुछ मनचले भाई प्रायः यह कह उठते हैं कि भारत में इतनी ऊँची शिक्षा का आविर्भाव कभी भी नहीं हुआ था, इसलिये उनके आत्म-संतोष के लिये श्री डा० प्रसन्न कुमार आचार्य, एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्, आई० ई० एस० अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद युनिवर्सिटी के गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के ३० वें वार्षिकोत्सव पर दिये गये दीक्षान्त-भाषण से हम एक उद्धरण यहाँ देते हैं:—

छान्दोग्य उपनिषद् (सप्तम अध्याय प्रथम खंड) में कथानक के रूप में प्रसंग वश पाठ्य-विषयों की एक सूची मिलती है जिससे पता चलता है कि उस प्राचीन समय में भी किन किन विषयों का अध्ययन किया जाता था। सनत्कुमार ने नारद को आत्म-विद्या का पाठ पढ़ाने के पूर्व पूछा कि पहले यह तो बताओ कि अब तक तुमने क्या क्या पढ़ा है। नारद बोले:—

"भगवन्, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास पुराण, व्याकरण, गणित, पितृविद्या, लक्षण-विद्या (सामुद्रिक) काल विज्ञान-नीति, आचार-शास्त्र, नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष)

निरुक्त, तर्क-शास्त्र, सांग्रामिक-शास्त्र, सर्प-विद्या तथा नृत्य-गीत आदि कलाएँ—इन सब का ज्ञान प्राप्त कर चुका हूँ।

इससे भी विस्तृत सूची हमें ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से मिलती है। इसमें इन विषयों का उल्लेख आया है:—

१ अनुशासन (छः वेदाङ्ग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः शास्त्र, ज्योतिष) २ विद्या, ३ वाकोवाक्य (तर्क-शास्त्र) ४, इतिहास-पुराण, ५. आख्यान, ६ अन्वाख्यान, ७ अनुपाख्यान, ८, व्याख्यान, ९, गाथा, १०, नाराशंसि, ११, ब्राह्मणविद्या, १२ क्षत्रविद्या १३, राशि (अङ्कशास्त्र), १४, नक्षत्रविद्या, १५, भूतविद्या (रसायन शास्त्र ?), १७, सर्पविद्या, १८, अथर्वाङ्गिरस (वैद्यक शास्त्र सहित), १९ देव, २०, पित्र्य, २१, सूत्र, २२, वेद-वेद (व्याकरण), २३ एकायन, २४, देवविद्या, २५, देवज्ञान विद्या।

शास्त्रों में प्रायः चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। पर वात्स्यायन के 'कामसूत्र' ग्रन्थ के टीकाकार यशोधर के मत के अनुसार इन ६४ का विस्तार ५१८ तक पहुँचा है—६४ तो केवल मुख्य मुख्य हैं। प्रत्येक कला के अन्तर्गत बहुत सी अवान्तर कलाएँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार यह ६४ कलाओं के

समुदाय हैं। इनमें से चौबीस उद्योग धन्धे की कलाएँ, बीस द्यूत विषयक तथा शेष चौबीस पुरुष और स्त्री के पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी हैं।

साधारण कलाओं की प्रायः यह सूची प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती है:—

गीत-वाद्य, नृत्य, नाट्य, आलेख्य, विशेषकच्छेद्य (गोदना, गोदना आदि) तण्डुल-कुसुम-बलि विकार (खाने की थाली, फूल आदि सजाना), पुष्पस्तरण, दशन-वसन-अङ्ग-राग, मणि भूमिक कर्म (मनिहारी), शयन रचन, उदक-वाद्य (जलतरंग आदि बाजे), उदक घटन (फौवारे आदि बनाना), चित्रयोग, माल्यग्रन्थ, विकल्प, शेखरापीड योजन, नेपथ्य-प्रयोग, कर्णपत्र भंग, गन्ध युक्ति, भूषण योजन, इन्द्रजाल, कौचुमार योग (किसी प्रकार के सफाई के खेल), हस्तलाघव, विचित्र शाक-यूप-भक्ष्य विकार क्रिया (भक्ष्य भोज्य; लेस पेय), पानकरस-रागासव योजन (शर्बत आदि बनाना), सूचि कर्म (दर्जी का काम), सूत्र क्रीड़ा (नट का खेल), वीणा-डमरुक वाद्य, प्रहेलिका, प्रतिमा निर्माण, दुर्वचक योग (पशुओं आदि की बोली की नक़ल), पुस्तक वाचन, नाट्या-

ख्यायिका, दर्शन, काव्य, समस्या-पूरण, पत्रिक वेत्र वन विकल्प (टोकरी आदि बनाना), तर्कुकर्म (कातना), तक्षण (बढ़ई का काम), वास्तु-विद्या (इञ्जिनियरी आदि), सुवर्ण-रूप्य-रत्न-परीक्षा, धातुवाद, मणिराग ज्ञान, आकर ज्ञान (खानों के विषय में), वृक्षायुर्वेद योग, मेष-कुक्कुटलावक युद्धविधि, शुक सारिका प्रलपन, उत्सादन (शरीर की मालिश आदि), केश मार्जन कौशल, अक्षर मुष्टिक कथन, म्लेच्छित विकल्प (गोपनीय भाषा), देश भाषा विज्ञान, पुष्पशकटिका निर्मित ज्ञान, निमित्त ज्ञान, यन्त्रमात्रक, धारणमात्रक, संपाठ्य, मानसीकाव्य क्रिया, अभिधान कोष, छन्दोज्ञान, क्रिया विकल्प, छलितक योग, वस्त्र गोपन, द्यूत विशेष, अक्षक्रीड़ा, बालक्रीडनक, वैनयिक ज्ञान, वैजयिक ज्ञान तथा व्यायामिक ज्ञान।

पाठ्य विषयों के इस विवरण से इतना स्पष्ट होता है कि प्राचीन-काल में इस देश में ज्ञान न तो एकाङ्गी रक्खा जाता था और न ऐहिक पदार्थों का निषेधक। सर्व-सम्मत है कि बालक और बालिकाओं को सर्वाङ्ग सम्पूर्ण शिक्षा प्रदान करना ध्येय था।

शिक्षा के सभी अंगों का एक सुन्दर सामञ्जस्य हम लोगों की राष्ट्रीय-शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। प्रत्येक समय और

देश के अनुभवों से लाभ उठाते हुए हमें अपनी प्राचीन शिक्षा में उचित संशोधन करने से पीछे नहीं हटना चाहिये। हमारी शिक्षा राष्ट्रीयता के आभास-मात्र के सहारे अधूरी और अपूर्ण नहीं रहनी चाहिये। हमारे आदर्शों को अन्य देशों के आदर्शों द्वारा उपार्जित होने से सहायता ही मिलेगी। उसकी अवहेलना करना भूल है।" अस्तु:—

इस उपर्युक्त रीत्यानुसार शिक्षा-पद्धति में पला हुआ जीवन कितना उत्कृष्ट होगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं। यह स्वयं-सिद्ध है। सहस्रों की संख्या में लोग इसकी प्रशंसा कर चुके हैं। बुद्ध के निर्देशानुसार यही मध्य का मार्ग हो सकता है। किन्तु इतने पर भी लोग यत्र तत्र मनु को नंगा, लुच्चा, लम्पट और विषयी कह कर ही अपनी क्षुद्र बुद्धि की व्यग्रता शान्ति कर पाते हैं। मेरी धारणा में वे स्वयं साहित्यिक..........और ....हैं। वे संसार में अपनी इसी पद्धति के सहारे कीर्ति की प्राप्ति होने के सरल-साधन की कल्पना करते हैं।

जिस गुरुकुलीय जीवन में सरलता, सादगी, जितेन्द्रियता और तपस्विता का पूर्ण-रूप से सामान संचय किया गया हो उसकी उपयोगिता क्यों न महान् हो? उसका आदर सर्व-श्रेष्ठ

है ? आज-कल की भाँति वह ख़र्चीली नहीं है। साधारण से साधारण घर के बच्चे उससे लाभ उठा सकते हैं। इन्द्रियों पर पूर्ण-रूप से संयम रखने के लिये आग और पानी रूपी स्त्री और पुरुष को जहाँ आसानी से एक दूसरे के निकट न पहुँचने दिया जायगा, वहीं सदाचार और सच्ची शिक्षा का सर्वदा निवास रहेगा। यही भारतीय आदर्श है। यही उचित सभ्यता और शिष्टता को सुरक्षित रख सकती है और विद्वज्जनों के सम्मुख सर्वोच्च आसन पा सकती है।

सह-शिक्षा का प्रश्न

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोध वशानुगम् ॥

मनु० २—२१४

"संसार एक शिक्षालय है और हम सब उसके विद्यार्थी हैं, इस शिक्षणालय की परीक्षायें बड़ी कठिन हैं। स्वावलम्बी विचार, स्वतंत्र-प्रियता और अपने 'व्यक्तित्व' पर दृढ़ विश्वास रखने वाले विद्यार्थी ही इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं।"

—स्वामी सत्यदेव

सह-शिक्षा का प्रश्न एक बड़ा गंभीर प्रश्न है। इसकी अपनी विचित्रता बड़ी ही अनोखी है। जिसमें दो भिन्न-भिन्न संस्कारी आत्माओं के चौबीसों घंटे के मेल का प्रश्न है। यदि इसको यों ही आसानी से हलकर दिया जाय तो

नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में वह अपना कैसा स्वरूप स्थापित करेगा ? यद्यपि इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न विचार समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। उनमें सह-शिक्षा के सम्बन्ध में जो दलीलें दी जाती हैं वे भारतीयों की समझ में लचर और हेय हैं। यही कारण है कि भारतीयों के मस्तिष्क में वे स्थान पाने में संकुचित सिद्ध हैं।

इसमें संदेह नहीं कि भारत से इतर कुछ देशों में सह-शिक्षा की प्रणाली प्रचलित है, जिसका परिणाम जैसा होना है वहाँ की जनता के सम्मुख आ चुका है। जिसका चित्रण कर कोई भी शुद्ध भारतीय आत्मा काँप उठेगी। केवल यही बात नहीं कि सह-शिक्षा की समस्या से भारतवासी ही घबड़ा जायेंगे, प्रत्युत योरप के लोग भी इससे घृणा करने लगे हैं। जर्मनी, अमेरिका आदि देशों में तो इसका वहिष्कार प्रारम्भ हो गया है। इसलिये हमें आश्चर्य है कि पद-दलित भारत के गुलाम भारतवासियों में से कुछ इने गिने सुधारवादी होने की डींग मारने वाले लोगों की मनःशक्ति में अपने पतन की इस दूसरी धारणा को क्यों स्थान मिल रहा है। क्या इन्हीं प्रयत्नों में वे

भारत में वीर और वीरांगनाओं की उत्पत्ति का चित्र चित्रित करते हैं।

जिस शिक्षा का अर्थ बालकों को उनके व्यक्तित्व का उनके सम्मुख रखना अथवा ज्ञान कराना है, जो बिना वीर्य-रक्षा के असंभव है, सह-शिक्षा में निश्चय ही उसका सर्वनाश हो जावेगा। इसलिये कि व्यक्तित्व ऐसी सरल वस्तु नहीं है जिसे आसानी से हर मनुष्य अपने अन्तःकरण में स्थापित कर सके। योरप में जहाँ सह-शिक्षा की प्रणाली प्रचलित है, तनिक लोग बतावें कि वहाँ के शिक्षित समुदाय के मध्य कितने लोग ऐसे हैं, जिन्होंने विद्यार्थी-जीवन में अपने व्यक्तित्व को समझा है और उस पर अमल करते रहे हैं ? हाँ ! भारत के सपूत आज भी इस पतन के जमाने में अपने व्यक्तित्व को योरप से अधिक ही समझते हैं। यही कारण है कि भारत में अब भी सदाचार की धवल छटा छिटक रही है। परन्तु जिस दिन सह-शिक्षा का प्रादुर्भाव होगा निश्चय ही भारत भी योरप जैसा बन जायगा और इन सुधारवादियों की (जो सह-शिक्षा के पक्ष में हैं) खोपड़ी पर चढ़कर लोग व्यभिचार का ताण्डव-नृत्य करते हुए दिखाई देवेंगे।

सह-शिक्षा के सम्बन्ध में सब से बड़ी समस्या आचार सम्बन्धी ही है। बालक और बालिकायें जब इस वृत्ति और रूप को प्रकृति की कृपा से ही प्राप्त हैं तो उनके परस्पर के सहयोग से व्यभिचार की आशङ्का अवश्यम्भावी है। इसलिये उस अवस्था तक कृत्रिम दीवार का खड़ी कर देना आवश्यक ही है, जब तक कि वे अपने अपने व्यक्तित्व को न समझ लें और उस पर अमल करना न सीख जायें। अतः इस अन्धानुकरण से हमको लाभ नहीं भयंकर हानि ही होगी।

स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने अपनी अनहैपी इण्डिया नामक पुस्तक में लिखा है कि—"योरप के अन्दर स्थित शिक्षा-प्रणाली में हाई स्कूल के छात्र-छात्राओं के सम्बन्ध में सब से प्रथम बात तो यही है कि वे जितने युवक और युवतियाँ सहभोज नाच-रंग, मोटरादि में साथ-साथ बैठती हैं, उनमें ९० प्रतिशत् ऐसी हैं जो आलिंगन और चुम्बन का आनन्द लेती हैं।…… ……………………परन्तु चुम्बन और आलिंगन तो प्रारंभ की बातें हैं। इनसे ही अन्त नहीं हो जाता। उनमें ५० प्रतिशत् तो विषय-भोग सम्बन्धी स्वतंत्रता लेने लगते हैं।"

यह बात मिथ्या नहीं है, अमेरिका के जज मि० लिंडसे ने

स्वयं लिखा है—"हाई स्कूल में पढ़ने वाली बालिका शायद ही अक्षतयोनि बचती हो।"

सन् १९३४ की फरवरी मास की 'सहेली' के ४६५ पृष्ठ पर रामनारायण मिश्र बी० ए० सम्पादक भूगोल ने विभिन्न देशों की यात्रा के परिणाम स्वरूप कुछ प्रश्नोत्तरी छपवाई है। जिसमें वे लिखते हैं—"वहाँ के स्त्री पुरुष धर्म (सदाचार) से विमुख हो रहे हैं और पार्कों, जंगलों तथा दूसरे स्थानों में ऐसे निर्लज्ज काम करते हैं जिनका वर्णन किसी सभ्य-पत्रिका में नहीं किया जा सकता।"

आज यदि इन उपर्युक्त उदाहरणों को इन सुधारवादियों के सम्मुख रक्खा जाता है तो वे जो उत्तर देते हैं वह निम्न हैं। जो प्रयाग से प्रकाशित "विज्ञान" के दिसम्बर १९३४ के अंक में इस प्रकार स्थान प्राप्त किये हुये हैं:—

१—सतीत्व और ब्रह्मचर्य की रक्षा के विचार पागलपन के हैं।

२—व्यभिचार में कोई दोष नहीं।

३—जैसा नदी में जाकर हर एक पानी पीता है, वैसा ही नदी जैसी स्त्री है।

४—कालेजों के कुमार और कुमारियों को कालेजों में शिक्षा पाते हुए परस्पर प्रेम सम्बन्ध करके विषयोपभोग करना चाहिये। संतति प्रतिबंधक उपायों का उपयोग करने से ऐसे सम्बन्ध गुप्त रह सकते हैं।

५—विवाह होने के पूर्व इस तरह के प्रेम-सम्बन्ध तरुण और तरुणियाँ करें, क्योंकि आज-कल विवाह समय देरी से होता है।"

इस पर विज्ञान के सम्पादक अपनी टिप्पणी इस प्रकार देते हैं:—

"विज्ञान के आविष्कारों के प्रयोग और प्रचार से मानव-समाज का जीवन इधर सौ वर्षों में धड़ल्ले के साथ अस्वाभाविक एवं कृत्रिम बनता जा रहा है। हम इसे विज्ञान का "दारुण दुरुपयोग" कहते आये हैं। विज्ञान का इसमें कोई दोष नहीं। वह तो स्वाती की बूँद है जो चातक के मुख में अमृत और साँप के मुख में विष हो जाती है। सदुपयोग से मनुष्य देवता बनकर ऊँचे उठता है, दुरुपयोग से दानव और पशु बनकर नीचे गिर जाता है। विज्ञान की प्रति-क्रिया-रूप में ही यह विचार फैला है कि जंगलों में

बिना पकाया भोजन करके नंगे जीवन बिताना ही वैज्ञानिक और स्वाभाविक जीवन है, क्योंकि पशु भी भोजन नहीं पकाता और कपड़े नहीं पहिनता और स्वस्थ्य रहता है। यही तपस्या के भाव से किया जाता तो देवत्व था। परन्तु इसमें तपस्या और देवत्व का कोई भाव नहीं है। शुद्ध पशुत्व है। मनुष्य में पशु और देव दोनों के भाव हैं, उसे पशुता छोड़कर देवत्व ग्रहण करना चाहिये, यही उसके विकास का मार्ग है। काम क्रोध लोभ आदि विकारों पर पशु कोई अंकुश नहीं रखता। मनुष्य रखता है। यही तो भारी अन्तर है। काम पर अंकुश है:—ब्रह्मचर्य और विवाह यह मनुष्यों में होता है, पशुओं में नहीं। क्रोध पर अंकुश है:—अक्रोध और नीति-विधान जो मनुष्यों में है, पशुओं में नहीं। लोभ पर अंकुश है:—अस्तेय और समाज-द्वारा दमन, यह भी मनुष्यों में है, पशुओं में नहीं ब्रह्मचर्य और विवाह का तिरस्कार पशुत्व को अंगीकार करना है, समाज को विच्छृङ्खलित और छिन्न-भिन्न करना है। अपना वैयक्तिक स्वास्थ्य बिगाड़ना अलग है। सन्तति निरोध के उपायों से काम लेकर पाप छिपाने की चेष्टा विज्ञान

का घोर दुरुपयोग और आत्यन्तिक दुर्नीति है। साथ ही पातक की ओर प्रेरित और प्रवृत्त करने की चेष्टा पूरी शैतानी का काम है। सुराज्य और समाज के रक्षकों का धर्म है कि इस पतनोन्मुखता से उसकी रक्षा करें।"

अब तनिक आप भी विचार करें जिस ब्रह्मचर्य का प्रयोजन वीर्य-रक्षा है और जिस वीर्य रक्षा के सहारे ही हम विद्यार्थी-जीवन की यात्रा सुख-पूर्वक करते हैं। स्वास्थ्य सुन्दर और नीरोग रहता है। संभोग से दूर रह कर जिस स्त्री पुरुष का विद्यार्थी-जीवन आनंद के साथ बीतता है, क्या वह विचार पागलपन का विचार है?

व्यभिचार से आदत बिगाड़ कर व्यक्ति, संभोग की आकांक्षा में निरन्तर प्रेरित रहता है। एक को छोड़ कर दूसरी पर आक्रमण करने का वह अभ्यासी होता है, जिससे कुछ दिनों के उपरान्त उसके स्वास्थ्य का सर्वनाश होता है। वह मृत्यु के मुख में पहुँचने के योग्य हो जाता है। क्या यह मिथ्या है?

यदि स्त्री नदी है, तब तो यह बड़ा अच्छा सुधार है! इससे बढ़ कर स्त्री का और क्या सौभाग्य हो सकता है कि सैकड़ों मनुष्य उसमें गोते लगा कर मुक्ति जैसे आनन्द को लाभ करेंगे?............शोक! शोक!! शोक!!!

अपरिपक्वअवस्था में ही संभोग कराने में यदि सुधारवादी अपने सुधार को सफल समझते हैं तो भारत में बाल-विवाह निषेधक कानून की फिर कोई आवश्यकता न थी। जैसे कालेज में एक साथ रह कर परस्पर प्रेम और संभोग करना ही उनका एक मात्र ध्येय है और उसके परिणाम में उन्हें कोई हानि नहीं, वैसे बाल-विवाह में भी फिर कोई हानि नहीं थी। परन्तु यह निश्चित है कि पढ़ाई-लिखाई इस परस्पर के संभोग और प्रेम में किनारा ही कर जायगी।

आगे और दूसरा लेख भी देखिये। जो नवम्बर १९३४ के विशाल-भारत में प्रकाशित हुआ है। तनिक उसका भी मुलाहिजा लीजिये। सुधारवाद के नाम पर मूर्खता की हद हो गई।

"पुराने ज़माने में विवाह के पहले युवक और युवती दोनों अखंड ब्रह्मचर्य धारण करते थे और विवाह हो जाने पर भी वे संयम से रहते थे। इसका कारण उस समय की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था थी। पूर्वीय-सभ्यता का बोल-बाला था तत्काल ऋषि मुनियों के उज्वल और ज्वलन्त उदाहरण युवक और युवतियों को वैसा संयत-जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य करते थे। परन्तु आज-कल उस वातावरण का सम्पूर्ण अभाव

है। × × × × × × × × स्त्रियों और पुरुषों के बीच अथवा युवक और युवतियों के बीच कृत्रिम परदे की जो दीवार खड़ी की गई है, वह कहां तक न्याय संगत है? हमारा ही नहीं, वरन् संसार के मनो-वैज्ञानिकों तथा समाज शास्त्रज्ञों का यह कथन है कि प्रकृति ने स्त्री पुरुष को सहचर्य के लिये बनाया है और उसकी यह मंशा भी है कि वे एक दूसरे के साथ बिना किसी रोक टोक के रहें और अपने विचारों का आदान प्रदान करें। मनुष्य चूँकि विवेक-युक्त जीव है, इसलिये वह इस सम्बन्ध में अधिक शिष्टता तथा शालीनता से काम करे। यही बात अबाध नियमों द्वारा संचालित होती है। हमारे देश वाले इन प्राकृतिक नियमों को हेय समझते हैं और उन्हें बर्बर समझकर उनका घोर विरोध भी करते हैं। हमने यह भी माना कि पाश्चात्य देशों ने इस सम्बन्ध में जरूरत से ज़्यादा स्वतंत्रता दे रखी है। जिससे कभी कभी नुक़सान भी होता है, फिर पाश्चात्य नवयुवकों का स्वास्थ्य ईर्ष्या की वस्तु है। योरोप—अमेरिका में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी नियम बहुत ढीले हैं। वहाँ स्त्री-पुरुष एक दूसरे से स्वच्छन्दता-पूर्वक मिलते-जुलते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक दूसरे से कंधा मिला कर काम करते हैं।

हमारी भारतीय सभ्यता में यह बात उच्छृङ्खलता की समझी जाती है।

फिर भी बहुत जरूरी है कि भारतीय युवक युवतियों के बीच खड़ी रहने वाली परदे की दीवार उठा दी जाय। उन्हें आपस में उठने-बैठने और अपने हृदयगत् भावों का पारस्परिक आदान-प्रदान करने में किसी प्रकार की बाधा न होनी चाहिये वैज्ञानिकों और मनो-वैज्ञानिकों का यह कथन है कि युवक-युवतियों तथा पुरुष स्त्रियों में स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने हृदयगत् भावों का आदान-प्रदान करने से दोनों की स्नायु-प्रणाली पर ईश्वर में बहने वाले तड़ित तरंगों द्वारा एक तरह का हर्षोत्पादक प्रभाव पड़ता है। जो दोनों की आत्माओं को बलिष्ट और स्नायिक-प्रणालियों को अधिक शक्ति-शाली बनाता है और यह बात स्त्री-पुरुष दोनों के स्वास्थ्य के लिये अतीव-आवश्यक है। उस दिन केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी में भाषण करते हुए सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर आइन्स्टीन ने कहा था—"युवावस्था में स्त्री-पुरुष को पारस्परिक सहचर्य्य प्राप्त न होना अप्राकृतिक तथा अनिष्ट-कर है। हमारे देश को यह सौभाग्य प्राप्त है कि हम इस अप्राकृतिक और अनिष्ट-कर सामाजिक-प्रथा से मुक्त हैं।"

हम पाश्चात्य सभ्यता के रंग में आकर अथवा वहाँ के डाक्टरों के कथनानुसार ही स्त्री संयोग को जरूरी नहीं बतलाते, प्रत्युत हम इन प्रथाओं का विरोध ही करते हैं, किन्तु विज्ञान की सत्यता से इनकार नहीं किया जा सकता। हम युवक-युवतियों के मिलन पर बंधन नहीं रखना चाहते, परन्तु उन्हें पाश्चात्य देशों के समान स्वतंत्रता भी नहीं देना चाहते। शायद पाठक यह कहें कि मिलन होते ही काम-वासना प्रज्वलित हो उठेगी और समाज नैतिक पतन की रंगस्थली हो जायगा। परन्तु युवक युवतियों के मिलन का परिणाम निश्चित ही वासना-तृप्ति होगा, यह नहीं कहा जा सकता। ऐसा निष्कर्ष एकदम निकाल लेना स्वतंत्रता पर अत्याचार करना होगा। सह-शिक्षा के आचार्यों और उसके हिमायतियों तथा मनो-वैज्ञानिकों का यह दावा है कि स्वतंत्रता-पूर्वक मिलने-जुलने से युवक-युवतियों की काम-वासना प्रसुप्त नहीं रह पाती और फिर वासना उन्हें उतना अधिक नहीं सताती। एक दूसरे से अपने विचार आदान-प्रदान करते रहने से वह हमेशा मर जाती है। लोग जानते हैं कि हलवाई का मन कोई मिठाई खाने के लिये नहीं चलता। क्योंकि मिठाई सदा सामने रहने के कारण बिना खाये उनकी मिठाई खाने की

ह्विश मिट जाया करती है। इस प्रकार के निर्णय से युवक-युवतियों का स्वास्थ्य अच्छा होता है। उनकी अनेक मानसिक और शारीरिक कमजोरियाँ दूर हो जाती हैं। उनके जीवन में सन्तोष और आनंद का उदय होता है। वे अप्राकृति कृत्रिम तथा विकृत उपायों से अपना ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं करते। वासना और सहवास की आग उनके हृदय और स्वास्थ्य को नहीं जलाती। एक सात्विक वातावरण का आविर्भाव होता है जो हमारे भावी-जीवन को प्राण-पूरक तथा स्वावलम्बी बनाता है। जीवन में उमंगों तथा हसरतों का ज्वार आता है और जीवन के निकट की सारी चीजें कर्त्तव्य की ओर उत्साहित करती हैं। जीवन का वास्तविक स्वाद आता है। इसलिये हमारा तो यह विश्वास है कि यदि भारत में सह-शिक्षा और बिना अधिक सामाजिक-बन्धन के युवक-युवतियों को अपने विचारों का आदान-प्रदान करने का अवसर दिया जाय और उनके बीच से स्त्री-पुरुष का हौआ निकाल दिया जाय तो निश्चय ही भारतीय युवक और युवतियों का स्वास्थ्य सुधरेगा। भेड़ बकरियों की तरह एक को दूसरे से अलग बन्द रखने से हमारा नैतिक-पतन अवश्यम्भावी है। उपदेश और सिद्धान्तों की थोथी भीत उठा

फर प्रकृति के नियमों को बहुत दिनों तक नहीं रोका जा सकता।

"पूर्वीय विद्वानों का मत है कि पाश्चात्य सभ्यता राक्षसी है, उससे आत्म-चिन्तन में बाधा पड़ती है। सम्भव है यह मत ठीक भी हो, परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रकृति के अनुशीलन के विना हमारा जीवन हरगिज़ सफल नहीं हो सकता। इस समस्या को जिस प्राकृतिक रीति से पाश्चात्य विद्वानों ने सुलझाया है वही हमारे लिये भी सबक़ होना चाहिये। यह इसी की बदौलत आत्म-चिन्ता के थोथे वसूलों को ताक़ पर रखकर केवल शरीर और स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने वाले पाश्चात्य देश, हम चिन्तकों से कहीं अच्छे हैं। आज वे ही हमारे मस्तक पर चढ़कर हमें अपनी सनक का शिकार बना रहे हैं। उनकी मानवी-शक्ति के आगे आज हम भी नत-मस्तक हो रहे हैं। इसका श्रेय उनके स्वतंत्र सामाजिक वातावरण को है और इसका हेय हमारी आत्म-चिन्ता को।"

यह हुआ हमारे देशवासी भाई का सह-शिक्षा संबंधी विचार! जिस पर दृष्टि-पात करना अति आवश्यक है। यद्यपि अभी आप भी किसी उचित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे हैं, आपकी

आत्मा भी सशंकित है। फिर भी धृष्टता भरी पड़ी है। इसलिये कहा जायगा कि:—"शोहरत की सनक में, सनक जाना कोई आश्चर्य-जनक और नई बात नहीं।" संसार में ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत है, जिनमें यह गुण पाये जाते हैं। ऐसों का हृदय अस्थिर और चंचल होता है। यही तो कारण है कि वे गंभीरता की तह में पहुँच कर वास्तविकता को पहचान सकने में सर्वदा असमर्थ रहे हैं।

मनो-वैज्ञानिक और समाज-शास्त्री क्या! साधारण से साधारण मनुष्य तक इस बात का अनुभव करते हैं कि युवक और युवतियों का निर्माण परस्पर के साहचर्य के लिये ही है, परन्तु क्या मर्यादा को तोड़ कर या व्यवस्था का नाश करके?

जिस युवावस्था के तड़ित-तरंगों में प्रवाहित होकर मनुष्य जिसके लिये अपनी विचार कल्पनाओं को विचित्र धारा में बहांया करता है, और उसके समीप पहुँचने की अभिलाषा में प्रेरित होकर अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिये बड़ी-बड़ी आशाओं के पुल बाँधा करता है और जिसकी छाया-मात्र के स्पर्श से अपने आपको स्वर्ग में पहुँचा हुआ समझता है, उसको प्रत्यक्ष देखकर तो उसकी अन्तर्वेदनाएँ

शतशः धन्यवाद ही दे उठेंगी। फिर यह तो उसके लिये और भी हर्ष की बात होगी कि वह कुछ काल तक उसके सम्पर्क में रमण करेगा।

युवक और युवतियाँ एक साथ बैठकर बोलकर, अपने विचारों का परस्पर आदान-प्रदान कर, इसके आगे न बढ़ेंगी? यह सोचना निरी अज्ञानता है। युवावस्था की उठती हुई ज्वालायें, विद्यार्थी-जीवन की उद्दण्डता ऐसे ही अवसर की ताक में रहती हैं। युवक और युवतियों का मेल उनकी माँगी मुराद है।

समाज ने युवक और युवतियों के आसानी से मेलपर नियंत्रण क्यों लगा रक्खा है? इसलिये कि इस अवस्था में तनिक अपने व्यक्तित्व के प्रति मनुष्य में विवेक नहीं हुआ रहता। वह मदान्ध हो उठता है। ख़ासकर पुरुष इनमें सब से अधिक निर्लज्ज और निडर है। यदि यह नियंत्रण न होता तो काम-शक्ति से ताड़ित मनुष्य भारत को भी योरप बना देने से पीछे न रहता। इस अवस्था में उसकी वृत्तियाँ पशुत्व का रूप पकड़ती हैं, परन्तु नियंत्रण उनका दमन कर देता है। अतः इस प्रकार का समाज का नियंत्रण आवश्यक है।

मनो-वैज्ञानिकों की बातें उच्छृङ्खल हैं, भारतीय आदर्श के प्रतिकूल हैं। वह भारत के लिये कभी स्वीकार करने योग्य नहीं। इन विचारों की थोथी भीत पर भारतीय आदर्श का बलिदान करना बुद्धिमत्ता नहीं। विशेषतः उस अवस्था में जब कि दोनों संस्कारी आत्माएँ आलिङ्गन, चुम्बन और संभोग की इच्छुक रहती हैं। फिर यह कहना कि संयोग से उनकी इच्छा मर जायगी, मूर्खतापन का प्रथम लक्षण है। मनोविज्ञान अपना विचार इसके विपरीत प्रकट करता है। वह कहता है—किसी ऐसी वस्तु को देखकर जिससे मनुष्य की अन्तरात्मा हर्ष का अनुभव करती है। उस हर्ष के पश्चात् उसके मस्तिष्क में एक गांठ पड़ जाती है और उस गांठ के फलस्वरूप उसका ध्यान रह रह कर उसी ओर मुड़ा करता है। जैसे कोरे कागज़ को मोड़ देने से कागज़ में एक धारा बंध जाती है और उस धारा के फल-स्वरूप कागज़ का वह अंग उसी ओर मुड़ता रहता है जिस ओर वह मोड़ा गया होता है। फिर यह स्त्री और पुरुष तो प्राकृतिक रूप से ही उस ओर मोड़े गये पदार्थ हैं, ऐसी स्थिति में आप सह-शिक्षा का प्रसार कर, क्या उस शुभ अवसर के लिये सहयोग नहीं दे रहे हैं? जिसमें बर्बरता का प्रसार होना निश्चित है। इसी

बर्बरता से उस अवस्था तक—जिसे विद्यार्थी-जीवन कहते हैं—बचाने के लिये ही कृत्रिम दीवार की आवश्यकता हुई है। क्योंकि विद्यार्थी-जीवन में चित्त की एकाग्रता आवश्यक है। क्या कोई बुद्धिमान् मनुष्य कह सकता है कि सह-शिक्षा में दोनों का चित्त एकाग्र रहेगा ? अतः इस विषय में भारत के बीच विजय पाना तनिक टेढ़ी खीर है। हाँ ! यदि पर्याप्त नियंत्रण का विश्वास दिलाया जाय तो चाहे भले ही सफलता मिल जाय, किन्तु मेरी धारणा तो सशङ्कित ही है।

हविश मरजाने वाली बात भी मेरी समझ में नहीं आती। हलवाई को हम मिठाई खाते हुए नहीं देखते। इसलिये कह देते हैं कि उसकी हविश मर गई है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि वह नित्य प्रति ही मिठाई का सेवन करता है। हमको न मिठाइयों के दर्शन होते हैं, न हम उसकी इच्छा ही करते हैं और हलवाई तो खरीदने वालों से पूर्व ही उसका स्वाद ले चुका होता है। अतः यह कहना अज्ञानता है कि निरन्तर के दर्शन से हविश मर जायगी। प्रत्युत निरन्तर के दर्शन से स्पर्शन की इच्छा उत्पन्न होती है और स्पर्शन के पश्चात् जो भाव उत्पन्न होता है वह वीभत्स है, उसका बार बार लिखना अनुचित है।

मनु कहते हैं:—

न जातुकामा कामानां उंपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एव भिवर्धते॥

मनु० २—९४

जिस प्रकार घृत के डालने से अग्नि और प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार दर्शन के वाद पुनः दर्शन की और स्पर्शन के बाद पुनः स्पर्शन की इच्छा उत्पन्न होती है। जिसका निरन्तर विकास होकर एक तारतम्य बंध जाता है। यदि इसका उपयोग विवेक अथवा नियंत्रण-पूर्वक नहीं होता तो स्त्री और पुरुष दोनों जिस अवस्था को प्राप्त होते हैं, बस, वह मृत्यु के समीप का स्थान है।

जिसके लिये अभी मतभेद है और जिसका अमेरिका में भी वहिष्कार हो रहा है, उसी को हमारे देशवासी अपनाने के लिये सलाह दे रहे हैं। यह भारतवर्ष का कैसा दुर्भाग्य है? एक गुलामी इधर वाल-विवाह की अभी दूर नहीं हुई है, दूसरी को बुला रहे हैं। कैसा पागलपन का विचार है?

२४ दिसम्बर १९३४ का प्रताप लिखता है:—"कलकत्ते

के रोटेरी क्लब में वहाँ के प्रमुख विद्वानों ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये कि 'बालक-बालिकाओं की एक साथ शिक्षा हो या नहीं ?'

श्री घोष ने इङ्गलैण्ड का उदाहरण देते हुए सह-शिक्षा को अनिवार्य और न होने को भारतीय-जीवन का सब से दुःखी पहलू बताया। इस पर डा० जेन्कीन्स ने सह-शिक्षा का विरोध करते हुए कहा—"अमेरिका में इसके विरुद्ध आन्दोलन मच रहा है। बालक और बालिकाएँ इससे समान वृद्धि नहीं कर पातीं। इसलिये उनका मिश्रण अवांछनीय है।"

सितम्बर १९३४ की सरस्वती में श्री संतराम जी बी० ए० ने भी इसका घोर विरोध किया है। जिसका पाठकों की अनुभूति के हेतु हम यहाँ उद्धरण दे रहे हैं:—

"जो वस्तु एक प्राणी के लिये अमृत है, वही दूसरे के लिये विष हो सकती है। निरोग मनुष्य को घृत पुष्टि देता है, पर रोगी को उसी से हानि हो सकती है। ठंडे देशों में मांस-मदिरा पौष्टिक जान पड़ते हैं, परन्तु गरम देशों में इनसे नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। कृषि-शास्त्र का एक मोटा सिद्धान्त

है कि जब किसी नये इलाके में आप खेती करने जायँ तो आपको पहले यह देखना चाहिये कि वहाँ के किसान वहाँ क्या बोते हैं। उनके दीर्घ-काल के अनुभव पर विचार करने के बाद ही आपको वहाँ किसी नई चीज़ की खेती शुरू करनी चाहिये। यदि आप विना सोचे समझे आसाम की चाय अमृतसर में पैदा करने का यत्न करेंगे तो आप निश्चित रूप से हानि उठायेंगे। किसी देश के जलवायु का प्रभाव, पशु-पक्षियों के स्वभाव और स्त्री-पुरुषों की प्रकृति का सम्यक्-ज्ञान, जितना वहाँ के आदि निवासियों को रहता है; उतना नवागन्तुकों को नहीं हो सकता। जिन लोगों ने भारत में कृषि-कर्म को उन्नत करने के लिये विना सोचे-विचारे योरोपीय और अमरीकन विधियों का प्रयोग किया, उन्हें अन्त को हानि उठानी पड़ी। परन्तु जिन्होंने अपनी बुद्धि से काम लेते हुए पश्चिम की अच्छी बातों का अपनी अवस्थाओं के अनुसार परिवर्तित करके अपनाया, वे मजे में रहे। भारत इस समय अंग्रेजों के आधीन है, इसलिये उसे इङ्गलैण्ड के सभी रीति-रिवाज दैवी दिखाई देते हैं। विलायत में लोग सवेरे नहीं उठते; बस हम समझते हैं कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए हमें भी दस बजे तक सोये

रहना चाहिये। हम उनकी ऐसी बातों को उन्नति का मूल कारण मान कर उनकी नक़ल करने को दौड़ पड़ते हैं। फ़ारसी में एक कहावत है कि "नक़ल के लिये भी अक़्ल चाहिये।" परन्तु हम हैं कि अपना हिताहित सोचे बिना उनकी प्रत्येक बात का—विशेषतः बुरी बात का—अनुकरण करने लगते हैं।

ठीक ऐसी ही बात सह-शिक्षा—लड़के और लड़कियों के एक साथ पढ़ने की है। क्योंकि योरप में सह-शिक्षा है और योरोपीय जातियाँ स्वराज्य भोगी हैं, इसलिए हमारे यहाँ भी सह-शिक्षा होनी चाहिए! योरप की यह सौग़ात हमारे लिए हितकर है या अहितकर इस पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने की हम कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। जो शिक्षा-पद्धति जाति के शरीर और चरित्र को दुर्बल बनाती है, वह सर्वथा त्याज्य है। जो स्वराज्य हिन्दुओं की गर्दन मुसल्मानों के हाथ में देता है, जो हिन्दुओं को उनके मानवीय अधिकार नहीं दिलाता वह विदेशी राज्य से भी बदतर है। पंजाबी में कहावत है "भाड़ में पड़े वह सोना जो कानों को खाय।" यदि सह-शिक्षा हमारे लड़के और लड़कियों में अनाचार फैलाती है; उनके चरित्र को दुर्बल करती है; तो वह हमारे लिए ग्राह्य नहीं हो सकती।

सह-शिक्षा को ग्रहण करने से पहले हमें देखना है कि हमारे पूर्वजों का अनुभव इस विषय में क्या कहता है। मनु महाराज कहते हैं:—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

मनु० २—२१५

अर्थात् पुरुष को चाहिए मां, बहन और पुत्री के साथ भी एकान्त में न बैठे, क्योंकि ये इन्द्रियाँ बड़ी बलवान हैं। बड़े बड़े संयमी पुरुषों को भी वश में कर लेती हैं।

पुराणों में बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों के उदाहरण देकर बार, बार उपदेश किया गया है कि कामदेव बड़ा बली है। इसने इन ब्रह्मा और विष्णु, आदि देवताओं को भी परास्त कर दिया था। इससे सदा सावधान रहना चाहिए। मनु ने ब्रह्मचारियों के आचरण के लिये जो नियम बताये हैं, उनमें स्त्री के दर्शन-स्पर्शन और संगति का विशेष रूप से निषेध किया है।

स्वामी दयानन्द जी भी अपनी शिक्षा-विधि में कहते हैं कि लड़के और लड़कियों के विद्यालय बिल्कुल अलग अलग और

एक दूसरे से दूर होने चाहिएँ और लड़कियों के विद्यालय की स्त्रियाँ ही अध्यापिका होनी चाहिएँ।

यह तो हुआ प्राचीनों का अनुभव—उस समय के भारतीय मनीषियों का अनुभव—जब यहाँ हमारा राज्य था; जब यहाँ मुसलमानी सभ्यता का प्रवेश नहीं हुआ था और जब हिन्दुओं में दूसरी जातियों को भी अपने में आत्मसात कर लेने की शक्ति थी, परन्तु जब हमारी प्रभुता नष्ट हो चुकी है, जब हम दूसरों को हजम करना तो दूर; अपनी बहू-बेटियों की भी दूसरों से रक्षा नहीं कर सकते, जब आये दिन हिन्दू लड़कियों का अपहरण होता रहता है, सह-शिक्षा का क्या परिणाम हो रहा है? मुझे भारत के दूसरे प्रान्तों का उतना नहीं परन्तु पंजाब के विषय में मैं कह सकता हूँ कि इसका फल अच्छा नहीं हो रहा है। पंजाब में आधे से अधिक लोग—मुसलमान—तो अपनी लड़कियों को बुरके में छिपाये रखते हैं। उनसे यह आशा की ही नहीं जा सकती कि वे सह-शिक्षा के पक्ष में हों। इसलिये लड़कों के कालेजों में पढ़ने वाली लड़कियाँ पंचानवे प्रति सैकड़ा हिन्दू और ईसाई हैं। फिर ८०—९० लड़कों के क्लास में ८, ९ लड़कियाँ न तो लड़कों में आदर-भाव पैदा करती हैं और न एक

दूसरे का लिहाज ही। उनसे ऐसी बातों की आशा करना मानव-प्रकृति के साथ मखौल करना है। कालेजों में पढ़ने वाले लड़के साधारण कोटि के ही होते हैं। उनको इन्द्रिय-दमन भी नहीं सिखाया जाता। वरन् इसके विपरीत शेक्सपियर के "ऐज-यू-लाइक-इट" और कालिदास के "शकुन्तला" जैसे नाटक पढ़ाये जाते हैं। उनसे संयम की अधिक आशा भी नहीं की जा सकती? जिस आश्रम के कुलपति महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति हों और जहाँ अखिल-भारतवर्ष से चुन कर विशेष संयमी युवक-युवतियाँ लाई गई हों; जब वहाँ भी गड़बड़ हो जाय और महात्मा जी को उसके लिए उपवास करना पड़े तब आप समझ सकते हैं कि मनुष्य प्राणियों में काम-वासना कितनी प्रबल है। बात तो असल में यह है कि पवित्रता और उच्च आध्यात्मिक आदर्श का चाहे कितना भी ढोंग किया जाय। जहाँ भी युवक और युवतियाँ बिना किसी मर्यादा के आपस में मिलेंगी, वहाँ सभी बाँध टूट कर; गड़बड़ जरूर फैलेगा। ऐसी अवस्था में अनुमान किया जा सकता है कि सह-शिक्षा के प्रभाव से छात्र-छात्राओं का चरित्र कहाँ तक पवित्र बना रह सकता है।

एक तो वर्तमान शिक्षा-प्रणाली वैसे ही स्वयं लड़कों के लिए निकम्मी है, फिर यदि उसके साथ वह हमारे लड़के और लड़कियों के चरित्र को भी बिगाड़ने वाली हो तो फिर वह सह्य नहीं हो सकती।

पर्दा प्रथा को दूर करने की बात दूसरी है। पर्दा न करने का मतलब यह कदापि नहीं कि स्त्रियाँ पर-पुरुषों से चाहे जैसे स्वछन्दता पूर्वक मिलती रहें। महाराष्ट्र आदि प्रांतों में पर्दा बिल्कुल नहीं है। परन्तु वहाँ भी लड़कियों को और युवती स्त्रियों को यह आज्ञा नहीं है कि वे जहाँ चाहें और जिसके साथ चाहें अकेली घूमती फिरें। जो लोग पर्दा उठाने का अर्थ स्त्री-पुरुषों का अमर्यादित मेल मिलाप समझते हैं वे भारी भूल करते हैं।

कहा जाता है कि सह-शिक्षा होने से स्त्री-शिक्षा का प्रचार अधिक हो जायगा। परन्तु मेरी राय में तो उस प्रचार से न प्रचार होना ही अच्छा है। जब तक भारतीय लोग पाश्चात्य लोगों के सदृश अपनी स्त्री-पुरुष सम्बन्धी नैतिकता को गौण वस्तु न ठहरायेंगे, तब तक सह-शिक्षा से सदा सिर फुटौवल ही होता रहेगा। प्राइमरी स्कूलों तक से लड़के के अनाचार की शिकायतें बराबर आती रहती हैं। ऐसी दशा में

इस बात की क्या गारण्टी है कि लड़कियों के साथ दुराचार नहीं होगा ?

थोड़े दिन की बात है; सुना है; लाहौर के एक कालेज का एक मुसलमान प्रोफ़ेसर एक सिक्ख लड़की के घर चला गया। वह लड़की उसके कालेज में पढ़ा करती थी। लड़की के माता-पिता उस समय घर पर नहीं थे। वह वहाँ जाकर लड़की से अनुचित हास्य-विलास करने लगा। इतने में लड़की के पिता आ गये। उन्होंने उसे खूब पीटा और उठा कर मकान के बाहर फेंक दिया। यह बात सत्य है तो सह-शिक्षा के कड़वे फल का यह एक बहुत अच्छा नमूना है।

कुछ लोग कहते हैं कि सह-शिक्षा द्वारा परस्पर मेल मिलाप से लड़कियों में कुछ लड़कों के और लड़कों में कुछ लड़कियों के गुण आ जाने से, उनके जीवन एक पक्षी नहीं रहते। यदि उनकी बात ठीक भी मान ली जाय तो इसके लिए घर में ही भाई बहन, चाचा, ताऊ और मौसी, फूफी से मिल लेना पर्याप्त और निरापद होगा।

लड़कियों की योग्यता को ऊँचा करने के लिए उनको लड़कों की प्रतिद्वन्दिता में लाना भी अनावश्यक है। स्त्री का

कार्य-क्षेत्र पुरुष के कार्य-क्षेत्र से बिल्कुल अलग है। उनको एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी बनाने से समाज को कुछ लाभ नहीं; हानि ही है। स्त्रियों का अपना जगत् अलग है। उनकी प्रतियोगिता उसी में होनी चाहिए। स्त्रियों को पुरुष और पुरुषों को स्त्री बनाने की चेष्टा करना सामाजिक शान्ति के लिए बहुत अहित-कर है।

जैसा कि मैं आरम्भ में कह चुका हूँ, हमारे कुछ भाइयों की धारणा है कि स्वतन्त्र होने और वीर कहलाने के लिए देश में सह-शिक्षा का होना जरूरी है। परन्तु उनकी यह धारणा निर्मूल है। सह-शिक्षा का सब से अधिक प्रचार अमेरिका और इङ्गलैण्ड में ही है और वहाँ स्त्रियों की संख्या पुरुषों से बहुत अधिक है। जापान, जर्मनी, इटली और फ्रांस की स्त्रियाँ अङ्गरेजी स्त्रियों के समान स्वच्छन्द बिल्कुल नहीं। इस पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ये देश स्वतन्त्रता और वीरता में इङ्गलैण्ड से किसी अंश में कम हैं। गत २३ जून को बर्लिन-स्थित जापानी राजदूत श्रीयुत फूजियो उचिडा ने इण्डियन स्टूडेंट्स एसोसिएशन के अधिवेशन में आधुनिक जापान पर भाषण करते हुए कहा था—"जापान में

स्त्रियों के साथ ग़ुलामों का सा वर्ताव किया जाता है—योरोपीय लोगों की यह धारणा सर्वथा निराधार है। हाँ, यह ठीक है कि आधुनिक योरोपीय अर्थों में अधिकारों की समानता जापान में बिलकुल नहीं। जापान का आदर्श एक राष्ट्रीय राज्य है। उसमें पुरुषों का काम राजनीति का ख्याल रखना है और स्त्रियों का काम बच्चों का और उनकी शिक्षा का ध्यान रखना। श्रम-विभाग जापानी जीवन का प्रधान नियम है। जापान में भी अपवाद हैं, जैसे कि सब जगह होते हैं, परन्तु वे अपवादों से बढ़ कर और कुछ नहीं, इसलिए वे प्रचलित वस्तु-स्थिति के द्योतक नहीं हो सकते। स्त्री-पुरुषों का स्वच्छन्द मेल-मिलाप और सह-शिक्षा अभी तक जापानी वातारण के लिए विजातीय बातें हैं। तीन वर्ष हुए मैं टोकियो विश्व-विद्यालय में था। उस समय मैं केवल एक ही लड़की को जानता था और वह मेरी भगिनी थी।"—ट्रीव्यून जुलाई ४, १९३४। उसी विषय में जर्मनी का हाल सुनिए। श्रीमती गिरियम वियर्ड नामक अमरीकन पत्रकार १२ मई १९३४ के "टूडे" में लिखती हैं कि जर्मनी में पुरुषों के साथ स्त्रियों की प्रतियोगिता मूल में—स्कूल में—ही बन्द कर दी गई है। जहाँ तक सम्भव

था सह-शिक्षा का अन्त कर दिया गया है। लड़कियाँ अब, विशेष स्कूलों में ही भर्ती हो सकती हैं। वहाँ गम्भीर अध्ययन पर नहीं, वरन् शारीरिक-शिक्षा पर ही अधिक बल दिया जाता है।"

स्त्रियों की संगति में रहने से पुरुषों को क्या हानि होती है, इसका वर्णन करते हुए विश्व-विश्रुत जर्मन प्रोफेसर एल्फ्रेड बऊमलर कहते हैं—

"पुरुषों का स्थान घर या राग-रंग की महफ़िल नहीं। वहाँ वे महफिल के लायक़ हो जाते हैं, युद्ध के लायक़ नहीं। बर्लिन की महफ़िलों में युवक को बड़ा भारी भय रहता है, लड़कियाँ उसकी चापलूसी करती हैं। पुरुषों का स्थान युद्ध-क्षेत्र और पुरुषों के सम्मेलन हैं, न कि स्त्रियों की महफ़िलें।"

फिर सन् १९१८ में जर्मनी की विफलता के कारण बताते हुए, वे ही प्रोफेसर कहते हैं—

स्त्रियों ने एक ऐसी स्त्रैण संस्कृति बना दी थी जो भयानक विषयलुब्ध उपभोगों, साहित्य और नाटक, विज्ञान और कला से भरी हुई थी। स्त्रियों के कारण भोग-विलास में फंस कर पुरुष दिन भर घर में घुसे रहते थे, फौजी क़वायद के लिये बहुत कम समय देते थे। इसीलिए जर्मनी न जीत सका।

वहाँ के प्रचार मंत्री श्री जोसेफ गोइवल्स का कथन है—
"हम नाज़ियों ने स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन से बाहर निकाल दिया है। प्रकृति ने स्त्री को घर की चहार दीवारी में बैठ कर काम करने के लिए बनाया है, बाहर निकल कर काम करने के लिए नहीं।"

इन सब का उद्देश्य यह है कि स्त्रियाँ बाहर के पुरुषोचित कामों को छोड़ कर अपने घरेलू कामों को संभालें। पर इससे जर्मन स्त्रियाँ नाराज नहीं हुईं। वरन् सच्चाई यह है कि गर्टरूडवान सीडलिट्ज़ और हेलन वेचस्टीन जैसी धनाढ्य स्त्रियों ने ही अपना रुपया पानी की तरह बहा कर निर्वाचन में हिटलर को जिताया था। हिटलर को पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के वोट बहुत अधिक मिले थे। हमारी भारतीय बहनों को भी सह-शिक्षा को अहित समझने वाले भाइयों से अप्रसन्न नहीं होना चाहिए, वरन् जर्मन स्त्रियों की तरह उसी बात को अच्छा समझना चाहिये जिसमें हमारी जाति और देश का भला है।"

इस इतने बड़े गंभीर विचार के बाद मैं एक उद्धरण देना और अनिवार्य समझता हूँ और फिर अपने थोड़े से

रहे सहे विचारों का प्रदर्शन करा कर इस लेख को समाप्त करूँगा।

सर एस० राधाकृष्णन ने अभी हाल में ही वालटेयर में होने वाली दशम दार्शनिक कांग्रेस की स्वागत-समिति के अध्यक्ष की हैसियत से जो भाषण दिया है, वह विचार-शीलता, ताव अनुभूति और स्थिति के स्पष्ट-दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त उच्च-कोटि का है। जिसके विषय में २४ दिसम्बर १९३४ का प्रताप लिखता है:—

"सर एस० राधाकृष्णन ने अपने भाषण में अधिक से अधिक स्पष्टता एवं सुन्दरता के साथ यह बतलाने की चेष्टा की है कि समाज की विषम समस्याओं के हल करने में दार्शनिक-वृत्ति का स्थान कहाँ पर है। वर्तमान-जीवन की समस्याओं का उल्लेख करते हुए प्रो० राधाकृष्णन ने कहा कि स्वयं मनुष्य की समस्या गम्भीर विचारकों की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। विज्ञान की बढ़ती हुई आँधी में मशीन-मनोवृत्ति के तूफ़ान में 'मनुष्यत्व' के पैर टिकते हुए नहीं दिखाई देते। आज-कल हम जिस दिशा में अग्रसर हो रहे हैं, उससे हमें ज्यादा आधि-भौतिक सुख मिलने की आशा है। लेकिन वह भी अपना

'व्यक्तित्व' बलिदान करके। वास्तव में केवल आधिभौतिक सुखों के पीछे दौड़ने से और अपनी आध्यात्मिकता को बालाए-ताक़ रख देने से काम नहीं चल सकता। आध्यात्मिका की तिलांजलि देकर हम केवल पशुत्व की अभिवृद्धि कर सकते हैं। मुमकिन है कि उस पतन की दशा में हमें पशुओं को संतुष्ट करने वाले आधिभौतिक सुख प्राप्त हों? किन्तु हम केवल आधिभौतिक सुखों के नज़दीक पहुँच कर और आध्यात्मिकता से दूर हट कर पशुवत् हो जायेंगे! इसलिये हमें अपनी सामाजिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हुए यह ख्याल रखना चाहिये कि हम जिन सिद्धान्तों के आधार पर भावी-समाज का निर्माण करना चाहते हैं वे कहीं मनुष्य की आध्यात्मिकता का नाश तो नहीं कर देंगे। वे कहीं जीवन के उस भाग को ख़त्म तो नहीं कर देने वाले हैं। जिनके कारण मनुष्य 'मनुष्य' है और पशुओं से वह भिन्न एक उच्च-कोटि का प्राणी है। मनुष्य का व्यक्तित्व प्रकृति के विकास का एक मनोहर उदाहरण है। आधिभौतिक सुखों की वृद्धि करने वाली प्रत्येक नई सामाजिक व्यवस्था का एक कर्त्तव्य होना चाहिये—वह है—मनुष्य के व्यक्तित्व की रक्षा करना।"

अब मैं यहाँ पर एक बात कह कर अपने इस लेख को समाप्त कर दूँगा। वह यह है कि जिन लोगों का कहना है कि हमारे देशवासी प्रकृति के विषय में अपरिचित हैं और सर्वदा से अपरिचित रहते आये हैं। उनकी मूर्खता और अज्ञानता का ज्वलन्त उदाहरण इससे बढ़कर और क्या हो सकता है?

हमारे देश का टूटा-फूटा इतिहास जो कुछ भी संकलित हो सका है, वह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है—भारतवर्ष किसी समय में उन्नति के शिखर पर था। आज की भाँति उस समय के लोगों ने भी प्रकृति का खूब निरूपण किया था। कुबेर का विमान (वायुयान) और कुन्ती द्वारा देवहूति विद्या (वायलेंस टेलीग्राम) का उपयोग किसी को भूला नहीं है। अतः उस उन्नति के युग में भी सह-शिक्षा का परिचलन न था। हाँ! यत्र-तत्र वेदान्त-विषयक उलझनों को सुलझाने के सम्बन्ध में उस समय की विदुषी और पंडिता स्त्रियों का ऋषियों के आश्रमों में जाने की कथा मिलती है। परन्तु अध्ययन का तो चिह्न तक नहीं दृष्टिगत् होता। अतः बालक और बालिकाओं की शिक्षा का पृथक्-पृथक् होना तो उसी समय की निर्माण-विधि है। अन्यथा आज भारत अनुकरण कैसे करता?

भारतवर्ष में मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र का एक अंग है। जिसकी गंभीरता की तह में जाकर कुछ लेकर लौटने वाले आज भी योरप से भारत में अधिक और आगे हैं। उन्हीं दर्शन-शास्त्रियों का कथन है कि:—

"योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः"

वृत्तियों का निरोध योग (वैराग्य) से होगा, स्त्री के संयोग से नहीं। संयोग से संभोग की वृत्ति बनती है, जो सदाचार का पतन करती हुई मर्यादा को रसातल की ओर ले जाती है। अतः इसलिये ब्रह्मचर्य-मय जीवन के लिये बालक-बालिका की शिक्षा का एक साथ होना नितान्त अनुचित व हेय है और बिना ब्रह्मचर्य के गृहस्थ-जीवन में सरलता भी नहीं उपलब्ध हो सकती। इसलिये भारतवर्ष की आदर्श मर्यादा में सह-शिक्षा अमान्य है।

स्त्री-जाति का सम्मान

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफला क्रिया॥

मनु० ३—५६

"तुम्हारी जाति का जो इतना अधःपतन हुआ है, उसका प्रधान कारण शक्ति की इन मूर्तियों का अपमान करना है। जहाँ स्त्री-जाति का आदर नहीं किया जाता। जहाँ स्त्रियों का जीवन निरानन्द में बीतता है। उस देश के उन्नत होने की कुछ भी आशा नहीं। इसलिये पहले इन्हीं को उठाना होगा।"

—स्वामी विवेकानन्द

सभ्य-समाजान्तर्गत-विभिन्न प्रदेशों की भाँति आज भारत में भी विवाह की समस्या अपना रूप जटिल बनाती जा रही है। यद्यपि इस पर विचार करने से पहले यह जानना जरूरी है कि इस विवाह-प्रथा का आविर्भाव क्यों हुआ है?

इसका उद्देश्य क्या है ? और भारतवर्षीय आधुनिक संसार में उसका रूप क्या पाया जाता रहा है ? यद्यपि संकेत रूप में "आँखों का परदा" शीर्षक में हम यह बता आये हैं कि स्त्री और पुरुष की परस्पर स्वाभाविक जाग्रत-प्रेम का नाम विवाह है। तथापि फिर भी एक धर्म-विज्ञ-प्राणी को उससे सन्तोष नहीं होगा। इसलिये हम अगले प्रकरण में उसका धार्मिक रूप रक्खेंगे। यहाँ तो केवल यह उल्लेख किया जायगा कि भारत में आज अनेकों युवतियाँ पश्चिमीय प्रदेशों की भाँति ही इससे क्यों घृणा प्रकट करती दृष्टिगत् हो रही हैं। अतः उस कारण का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराना और उसकी वास्तविकता की खोज करना यही इस प्रकरण का उद्देश्य है।

हम यह आगे बता आये हैं कि भारतीय ऋषियों ने स्त्री और पुरुष को सामानाधिकारिणी माना है। यद्यपि दोनों के प्राकृतिक प्राप्त गुणों में कुछ अन्तर है। दोनों के कार्य-क्षेत्र भी कुछ अन्तर रखते हैं, तथापि अधिकार में दोनों बराबर हैं। अपने अपने विभाग में दोनों समानोन्नति कर सकते हैं, उन्हें रोकने वाला कोई नहीं। परन्तु भारत में सदियों से आज तक क्या होता रहा है ? इसी की संक्षिप्त विवेचना यहाँ की जायगी

और बताया जायगा कि भारतीयों ने उनके साथ अब तक क्या किये हैं। चाहे शिक्षित हो, अथवा अशिक्षित सभी में स्त्री-जाति के प्रति वास्तविक-मर्यादा की जबर्दस्त कमी रही है। दोनों ही समाज स्त्री-जाति को पिंजड़े में तोता मैना की भाँति बंद करके रखते आ रहे हैं। दोनों ही स्त्री-जाति को अपनी ख़रीदी हुई संपत्ति समझते रहे हैं। वह भी संपत्ति कैसी! जैसे, घर की अन्य वस्तुएँ।

स्त्रियों की स्थिति पुस्तक की रचयिता श्रीमती चंद्रावती लखनपाल एम० ए० अपनी पुस्तक में लिखती है:—

"............यदि पति घर में नहीं, तो मजाल है, आप घर में अपने आने का संदेश दे सकें। क्या घर में कोई नहीं? क्या मकान सूना है? क्या किवाड़ों में ताला लगा है? नहीं— दर्वाजे खुले हैं, घर आबाद है, इस वक्त भी कोई अंदर मौजूद है, परन्तु आपके लिये घर सूना न होता हुआ भी सूना है, आप अपने आने का कोई संदेश नहीं दे सकते! क्या कारण? कारण यही कि घर में जिस तरह मेज़ कुर्सियाँ मकान की शोभा बढ़ा रहीं है, जिस तरह झाड़ फ़ानूश छत से लटकते हुए अलंकार हैं, उसी तरह इस घर में एक जीवित अलंकार है—शायद

नया हो, शायद पुराना हो—वह मकान वाले की मिल्कियत है। मालिक-मकान के लिये उसकी स्त्री उसकी संपत्ति है, एक चीज़ है—उन्हीं अर्थों में वह मिल्कियत और चीज़ है, जिन अर्थों में उसकी मेज़ और कुर्सी। वह उसे छिपा कर रखता है—शायद उसके चुराए, खोए या छीने जाने से डरता है—घर के आखिरी कमरे के आखिरी कोने में गठरी सी बन कर बैठे रहने का उसे हुक्म मिला हुआ है। एक जगह से दूसरी जगह ले जाते समय उसे अच्छी तरह लपेटा जाता है; कोना-कोना, कपड़े से ढाँपा जाता है; खूब पैक करके उसका पार्सल तैयार किया जाता है। स्टेशनों पर सबने देखा होगा। उसे गाड़ी में इसी तरह चढ़ाया जाता है, जिस तरह एक बिस्तर को। यही कारण है कि खुले आबाद घर में घर के मालिक के मौजूद न होते हुए, आप किसी तरह भी नहीं जा सकते।"

स्त्रियाँ अब इस प्रकार के जीवन को बिताना हेय समझती हैं। वह जानती हैं और खूब समझती हैं—उनका भी जीवन है और पुरुषों के समान ही जीवन है। वह पुरुषों की ही तरह अब अपने सम्पूर्ण समाज को स्वतन्त्र करना चाहती हैं। निस-न्देह इससे उनमें शक्ति का संचार होगा। इस संचित-शक्ति

के सहारे पुरुषों की बर्बरता पर किसी न किसी दिन वे अवश्य ही घातक प्रहार करेंगी। बस, उसी दिन पुरुष समाज की आँखें खुल जायँगी।

सचमुच आज भारतीय-समाज में स्त्री, पुरुष की अन्य भोग्य वस्तुओं के सदृश भोग्य वस्तु है। काना, अंधा, लूला, लंगड़ा और अपाहिज सभी एक परम सुंदरी कन्या के साथ रमण करने की आकांक्षा रखते हुए दिखाई देते हैं। ७० वर्ष का बुड्ढा भी युवती चाहता है। अशिक्षित और मूर्ख भी पढ़ी लिखी सुशील सुंदर कन्या को प्राप्त करने की इच्छा रखता हुआ गृह-जीवन का स्वाद चखना चाहता है। धन और पद-मर्यादा के अहंकार में उन्मत्त पुरुष जिस महिला-रत्न को अनधिकार भोग में लाना चाहता है। वह निर्जीव पदार्थ नहीं है। वह सजीव है। उसके भी हृदय है, उसके भी उमंगें हैं। वह प्रस्तर की प्रतिमा नहीं है। इसीलिये वह अपने स्वास्थ्य, यौवन और सौंदर्य-रूपी अमूल्य संपत्ति को संसार के इन तुच्छ रुपयों के लोभ में पड़ कर गँवा देना नहीं चाहती। वह इसके विरुद्ध इच्छा रखती है। परन्तु खेद है। पुरुष समाज ने अब तक उसको निर्वाक् बना रक्खा है। वह भी धर्म-शास्त्रों के नाम पर, स्मृतियों के नाम

पर। वह अपनी आन्तरिक भावनाओं को समाज के सम्मुख नहीं रख सकती। इसका उसको अधिकार नहीं। यद्यपि अपनी आन्तरिक भावना को प्रकट करती है, परन्तु, मूक भाषा में, जो बताती है कि उसकी अभिलाषा क्या है? उसका व्यवहार पुकार कर उसके संकेत को स्पष्ट कर रहा है। परन्तु सुनता कौन है? संसार की आँखों और बुद्धि में ताले पड़े हुये हैं। जिसके परिणाम स्वरूप नित्य ही अनेकों सुवर्ण-मय-गृह धूलि में मिल कर सर्वदा के लिये शांति की गंभीर स्वांस लेते हुए दिखाई देते हैं। न वहाँ श्रद्धा होती है, न वहाँ जीवन का सुख और न संतोष। खिलती हुई कली मुरझा कर धीरे धीरे मृत्यु का ग्रास बन जाती है। अतः तनिक सोचो, तनिक विवेक करो, इस स्थिति का जन्मदाता कौन है?

भारतीय ऋषियों ने लिखा था:—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्चबहु कल्याणमीप्सुभिः॥

मनु० ३—५५

अपनी भलाई चाहने वाले तथा कुल के कल्याण की

कामना करने वाले पिता, भाई, पति और परिवार के अन्य लोग सर्वदा इनका आदर करते रहें। क्योंकि:—

"जहाँ इनका सम्मान किया जाता है, वहाँ सब प्रकार से सुख प्रदान करने वाली सामग्री का सर्वदा प्रसार होता रहता है।"

परन्तु आज तक क्या होता रहा है? इसका सूक्ष्म विवेचन ऊपर किया जा चुका है। रहा सहा आगे बताया जायगा। पुरुषों की गुण्डेबाजी और अनाचार-मय जीवन से स्त्री समाज त्राहि त्राहि कर उठा है। यह भी क्या किसी को बताने की आवश्यकता है?

स्त्रियों के पति जब कभी विदेश जाते हैं और महीनों नहीं, वर्षों और अनेक वर्षों तक अदृश्य रह कर लौट आते हैं। स्त्री अपने गृह में जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करती है, वह पति का हुक्म होता है। उसका जीवन पति के नाम की माला जपने के लिये ही है। इसलिये कि वह पति के हाथों बिक चुकी है। पति को अधिकार है जिस तरह चाहे रक्खे। उसे उसी में संतोष करना चाहिये। अपने सतीत्व को सुरक्षित रखने के लिये उसे बराबर प्रयत्न-शील रहना चाहिये। चाहे पति महोदय,

विदेश में किसी भी प्रकार रहते हों। उनको कोई कुछ कहने वाला नहीं। इसलिये कि वे भौंरे का अवतार होते हैं। उनके लिये उद्यानों की न्यूनता नहीं, न उद्यानों में पुरुषों की। वे यार दोस्तों के साथ वेश्याओं में या पर-पत्नियों में बैठ कर वंशी की मधुर-ध्वनि के सदृश आनन्द की किल कारियाँ मारने के अधिकारी हैं। उधर पत्नी निर्निमेष-चक्षुओं से श्रद्धा और भक्ति के साथ पति की अदृश्य-मूर्ति पर पुष्प, अक्षत की वर्षा करती रहे। उसके लिये हँसना, बोलना और प्रेम की बातें करना पाप! महापाप!! घोर जघन्य पाप!!!

कैसा अत्याचार है, स्त्री के साथ इस निर्दयता का व्यवहार क्या धर्म-शास्त्रों की कथित बातें हैं? कदापि नहीं? अपनी पत्नी को छोड़ पर-पत्नी या वेश्याओं में बैठ कर आनन्द उठाने वाले पुरुष के विषय में मनु कहते हैं:—

> परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन्महीपतिः।
> उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत्॥

मनु० ८—३५२

पर-स्त्री संभोग में प्रवृत्त होने वाले पुरुषों को डराने

वाले दण्ड देकर और अंग भंग करके राजा देश से निकाल दे।

वर्तमान समय में पर-पत्नी संभोगियों को दंड देने की व्यवस्था बहुत शुष्क है। यही कारण है कि दुराचारियों का खूब विकास हो रहा है। बलात्कार करने वाले को तो मनु ने बहुत ही कठोर दंड देने की आज्ञा दी है। वे कहते हैं:—

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्दर्पेण मानवः ।
तस्याशु कर्त्ये अंगुल्यौ दण्डं चार्हति षट्शतम्॥

मनु ८—३६७

जो पुरुष कन्या को घमंड में आकर बलात्कार से बिगाड़े उसकी दो अंगुलियाँ कटवा ली जावें और छः सौ पण का दंड दिया जावे।

क्या अब भी मनु के प्रतिवादियों को स्त्री जाति का उचित सम्मान करने वाला न होने में संदेह है। जिस देश और जिस कुल की स्त्रियाँ शोकाकुल होकर दुःख प्रकट करती हैं, सचमुच वह देश अथवा वह कुल संसार से सर्वदा के लिये मिट जाता है। भारत की आज यही दशा है। मनु इस दशा

को शीघ्र दूर करने के अनुकूल हैं। उनका निम्न श्लोक इसका साक्षी है:—

शोचन्ति जामयोयत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥

मनु० ३—५७

सर्व-साधारण जीवन में पुरुषों की अवस्थाएँ ध्यान से देखने योग्य है। जिस व्यक्ति की समाज में जितनी ही अधिक मर्यादा होती है वह व्यक्ति उतनी ही अधिक स्त्रियें रखता है। इस विषय में वह संकुचित नहीं है। ग्रामीण संपत्तिशाली एवं जमींदार चार-चार, छः-छः स्त्रियाँ विवाह करके रखने की इच्छा रखते हैं, इस पर भी चार छः तो रखैल अलग होती हैं। ऐसा न करने से उनके बड़प्पन में धब्बा लगता है। यह है हमारे देश के जिम्मेदार लोगों के नारकीय जघन्य कृत्य का चित्रित-चित्र। यहीं क्यों? इनके आगे चलिये। यह तो ग्रामीण संपत्ति-शालियों की ही बातें हैं। तनिक राजा महाराजाओं की ओर तो दृष्टि डालिये, आपको इस विचार की सार्थकता का बड़ा सच्चा उदाहरण मिलेगा। उनके गृह में तो दर्जनों रानियाँ उनकी

रंगरलियों में हाथ बँटाने के लिये विवश की गई हैं। फिर बताइये, पुरुषों की इस मनोवृत्ति का आविर्भाव क्या प्रकट कर रहा है? अत्याचार की भी कोई सीमा है। क्या इन स्त्रियों का जीवन, जीवन नहीं है?

स्त्री-जाति के साथ पुरुष जाति के बलात्कार की कहानी हम रोज ही अखबारों में पढ़ते हैं, रोज ही सुनते हैं। पिता तक पुत्री से भोग करता पाया जाता है। यह मिथ्या नहीं, सच है और नीचे दिया गया उद्धरण इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है:—

"लन्दन। डरबी शायर की सेशन अदालत में जोजेफ डार्वेन्ट नाम का एक व्यापारी और कैथलीन डारवन्ट पीकाक नाम की एक लड़की को पुलिस ने दुराचार के कारण पेश किया।

जोजेफ की अवस्था ३७ वर्ष और कैथलीन की १८ वर्ष है। कैथलीन एक दुकानदार के यहाँ नौकरी करती थी।

दोनों के विरुद्ध अभियोग यह था कि आपस में पिता और पुत्री का सम्बन्ध रखते हुए भी उन दोनों ने परस्पर व्यभिचार किया था। कहा जाता है घटना रनिनशा नामक स्थान के पास हुई है।

अभियुक्तों ने अदालत में अपने को निरपराध बतलाया, परन्तु जूरी के बैठते ही उन्होंने अपनी बात बदल दी।

सबूत-पक्ष का कहना था कि कैथलीन अभियुक्त जोज़ेफ़ की जायज सन्तान है। जब तक उसकी अवस्था १६ वर्ष की नहीं हुई थी उसका पिता उसकी माँ को प्रति सप्ताह ७ शि० दिया करता था।

३० सितम्बर को एक पुलिसमैन ने सड़क से होकर जाते समय पटरी पर एक मोटर देखी। सड़क कम चलती थी और मोटर में उस वक़्त रोशनी नहीं थी। उसने अपनी टार्च जला कर मोटर की ओर घुमाई। दोनों अभियुक्त एक दूसरे के साथ व्यभिचार करते हुए दिखलाई पड़े। उन पर इसी कारण अभियोग चलाया गया। पुलिसमैन ने जब जाकर जोज़ेफ़ से बात की तो वह कहने लगा कि तुम्हें शराब पिलाऊँ तो मान जाओगे? लड़की बोली कि हम दोनों ने यह पहले पहल काम किया है।

दोनों अभियुक्तों के नाम एक दूसरे से भिन्न थे, अतः उनके असली संबन्ध का पता कुछ समय तक न चला, पर जब आदमी से बातचीत की गई तो उसने बतलाया कि लड़की मेरी ही है, तथा हम दोनों एक साथ मोटर में मौजूद थे।

अदालत में बयान देते हुए सुपरिन्टेन्डेन्ट कलार्क ने कहा कि लड़की का चरित्र आदर्श था। उसके घर का वातावरण भी अच्छा था। दूकान में वह हर काम करने के लिये तैयार रहती थी और काम में बड़ी होशियार भी थी। अभियुक्त जोजेफ ही ने शायद उसे अपने वश में करके पथ-भ्रष्ट किया है। जोजेफ खुद बहुत दिनों तक लन्दन के एक फर्म में काम करता रहा। फर्म वाले उसके चाल-चलन को अच्छा बतलाते थे और कहते थे कि वह चीजों की बिक्री करने में बड़ा कुशल है। अभियुक्त जोजेफ अकेला रहता था।

लड़की के वकील ने कहा कि लड़की ने मेरी सलाह से अपना अपराध स्वीकार कर लिया है। इसके बाद बड़ी देर तक उसके साथ मेरी बातचीत होती रही और उसने कहा कि मै क़ानूनी पचड़े में पड़ना नहीं चाहती, साफ़ साफ़ कहती हूँ कि जन्म के विषय में कोई हाल पहिले किसी को मालूम नहीं थी। वह गत महासमर के जमाने में पैदा हुई थी और उसके माँ बाप एक दूसरे से विवाहित नहीं थे। १६ वर्ष की अवस्था में उसने अपने पिता को पहिली बार देखा था। वह शायद अपने पिता को वृद्ध समझती होगी, पर वास्तव में वह जवान निकला।

माननीय जस्टिस चार्ल्स ने अपने फैसले में कहा कि लड़की के पथ-भ्रष्ट किये जाने की बात साबित हो गई। मामला तो अवश्य संगीन है पर कैथलीन अभी निरी बच्ची है और उस पर तरस आता है। हालांकि ऐसे जुर्मों में जज को बड़ी सख्ती करनी चाहिये, फिर भी इस मामले में तो सख्ती करने का कर्तव्य पालन करना ही उचित होगा। लड़की को दो वर्ष तक अच्छा आचरण रखने की जमानत पेश करने की आज्ञा हुई।

आगे चल कर जस्टिस महोदय ने कहा कि अभियुक्त जोजेफ का मामला इससे बिल्कुल भिन्न है और उसके साथ इस प्रकार की रियायती नहीं की जा सकती। जोजेफ को चार वर्ष का सपरिश्रम कारावास दण्ड दिया गया।"

—भारत १०-१-३५

इस प्रकार इन पुरुषों की पैशाचिक लीला से सचमुच स्त्री-समाज चीत्कार कर उठा है। इस प्रकार के गुण्डेवाजी के चरित्र, उनकी अश्लील कहानियाँ और स्त्रियों के प्रति घृणित और दुर्दमनीय विचार क्या धर्मशास्त्र के हैं? क्या यह उनके संयत जीवन के प्रमाण हैं?

अब आप एक ओर इन स्त्रियों के जीवन को रक्खें और

दूसरी ओर पुरुषों के इस जीवन को और फिर विचार करें और बतलायें कि किसमें काम की प्रबलता है? और कहाँ तक कौन धर्म-शास्त्र का पालन कर रहा है?

यह परिस्थिति कुछ आज की ही नहीं है। इतिहास के सुदूरवर्ती-स्थल में भी यही चित्र अंकित मिलते हैं। स्त्रियाँ सर्वदा विजित और पुरुष विजेता होकर रहे हैं। रामायण और महाभारत में भी इसके स्पष्ट प्रमाण मौजूद हैं। रामचन्द्र का सीता को सिर्फ़ इसीलिये निर्वासन दंड देना कि उनके रखने से रामचन्द्र पर कलंक लगता था। पांडवों का द्रौपदी का जुए में हार जाना और कौरवों का उसे नग्न करने का प्रयत्न करना; अर्जुन का सुभद्रा को बिना उसकी अनुमति के हर ले जाना और श्रीकृष्ण का उसे न्याय-संगत मानना; भीष्म जैसे धर्मनिष्ठ ब्रह्मचारी का बालिकाओं को उनकी सम्मति के विरुद्ध हरण करना आदि बहुतेरे ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनसे यह स्पष्ट विदित है कि उस युग में भी पुरुषों की बर्बरता बढ़ी चढ़ी थी। स्त्रियों की सम्मति असम्मति की परवाह नहीं की जाती थी। इतिहास से यह पता चलता है कि स्त्रियाँ उस जमाने में भी बाजारों में बेची जाती थीं। यह प्रथा, सम्भव है, समग्र

भारत में प्रचलित न हो, किन्तु पंजाब आदि पश्चिमीय तथा पश्चिमीय प्रान्तों में अवश्य इसका प्रचलन था।

इस प्रकार हम ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट प्रकट कर सकते हैं कि पुरुषों की इस प्रकार की दुर्दमनीय मनोवृत्ति बहुत काल से चली आ रही है। इतिहास को छोड़ कर, कुछ अन्य ऐसे भी साहित्य उपलब्ध हैं जो धर्म-शास्त्रों का रूप लिये बैठे हैं, जहाँ हम पुरुषों के इस प्रकार की मनोवृत्ति का स्पष्ट उदाहरण पाते हैं। अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर पुरुषों ने क्या नहीं किया? यहाँ तक कि ऋषियों के नाम पर अनेकों श्लोक गढ़े गये। उनका समाज में खूब प्रचार हुआ। उन्हीं के आधार पर समाज की व्यवस्था की गई, समाजिक झुकाव के कारण जहाँ कोई कार्य परम्परा से चल पड़ा, वह सामाजिक-प्रथा, धर्म-शास्त्र के विचार या लौकिक-व्यवहार कहलाया। जिसका प्रभाव हमारे पारिवारिक-जीवन पर निरन्तर पड़ता रहा।

चाँद के नारी-आंदोलन अङ्क में पृष्ठ १४१ पर श्री त्रिवेणी प्रसाद जी भूतपूर्व सम्पादक-भविष्य-लिखते हैं:—

"साहित्य की उन्नति, विशेष कर चौथी शताब्दी से शुरू

हुई। इस समय भारत धन-धान्य-सम्पन्न था, इसलिए लोग स्वभावतः विलासी थे। उन्होंने स्त्रियों को विलास की सामग्री समझ रक्खी थी। विलास के सिवा स्त्रियों का विशेष मूल्य नहीं समझा जाता था। उस समय के समाज की इस मनोवृत्ति ने साहित्य का नाम कलङ्कित कर दिया। कवि, नाटककार सभी स्त्रियों के सौन्दर्य पर टूट पड़े। नायक-नायिकाओं की सृष्टि हुई। उनके कई विभेद किये गये। साहित्यकारों के लिए नायक-नायिकाओं के इन विभेदों का जानना आवश्यक समझा गया। विशिष्ट काव्यों में नायक-नायिकाओं का सम्भोग-शृङ्गार, सुरति-वर्णन आदि अनिवार्य समझा गया। स्त्रियों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का वर्णन करना तो कवियों की कला-चातुरी का सब से छोटा अङ्ग था। इस प्रकार कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, भारवि आदि कवियों से लेकर जयदेव जैसे भक्त-कवि तक ने इस प्रकार का कला-नैपुण्य दिखाने में कमाल किया। रामायण, महाभारत की जो स्त्रियाँ 'देवि' पद से सम्बोधित की गई थीं, वे अब 'कामिनी' बन गईं। उनके लिए, नितम्बिनी, विलासिनी, पीपरस्तनी, कर-भोरु आदि शब्दों का आविष्कार हुआ। क्या काव्य में, क्या नाटक में, क्या स्फुट काव्य में चारों ओर स्त्रियों के विलास-

विभ्रम की चर्चा चलती रही, जिसकी परम्परा, बिहारी, केशव, मतिराम, देव, पद्माकर आदि कवियों तक जारी रही।

इस प्रकार की साहित्य-चर्चा का फल हुआ कि विलासी लोगों ने स्त्रियों को विलास की सामग्री के सिवा और किसी योग्य नहीं समझा। स्मृतियों ने सन्तानोत्पत्ति का जो सिद्धान्त स्थिर किया था, उसे लोगों ने गौण स्थान दिया।

इस तरह हम देखते हैं कि पुरुषों ने, भिन्न-भिन्न समयों में स्त्रियों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार के मनोभावों को हृदय में स्थान दिया, और अन्त में, आजकल पुरुष-समाज स्त्रियों को एक साथ ही कई रूपों में देखता है। वह उसे अपने अधिकार में रहने वाली दासी, अपना मनोरञ्जन करने वाली सामग्री और अनेक प्रकार के अवगुणों की मूर्त्ति समझता है। पुरुष-वर्ग की इस मनोवृत्ति का फल क्या हुआ है, पुरुषों की क्या हानि हुई है और स्त्रियों को कितने कष्ट प्रतिदिन उठाने पड़ते हैं, यह हम आगे बतावेंगे।

परम्परा से चली आती हुई पुरुषों की कलुषित-मनोवृत्ति ने उन्हें समय-समय पर ऐसी प्रथाएँ प्रचलित करने के लिए प्रेरित किया है, जो स्त्री और पुरुष दोनों के लिए समान रूप

से अहित करने वाली हैं। परदा प्रथा, स्त्रियों को शिक्षा न देना, बालिकाओं का जन्म होते ही मार डालना, तिलक और दहेज की प्रथा आदि कुछ ऐसी ही प्रथाएँ हैं। यहाँ इनमें से किसी के ऊपर भी स्वतन्त्र रूप से पूर्णतया विचार करना असम्भव है। किन्तु संक्षेप में कुछ कहना अप्रासङ्गिक न होगा।

परदा चाहे जिस उद्देश्य से, जिस रूप से, प्रचलित किया गया हो, इसमें सन्देह नहीं कि वह स्त्रियों के प्रति पुरुषों की नीच मनोवृत्ति का परिचायक है। यदि हम यह मान भी लें कि स्त्रियों की ही भलाई के लिए इस प्रथा को समाज में स्थान दिया गया था, तो हम कह सकते हैं कि आज यह प्रथा उनकी भलाई का नहीं, बल्कि बुराई का कारण बन रही है। परदे का उद्देश्य यह कभी नहीं था कि वे असूर्यम्पश्या बन कर अँधेरी गुफा में कालयापन करें, और जीवन की सब से आवश्यक चीजों, प्रकाश और शुद्ध वायु, से भी वञ्चित रक्खी जायँ।

स्त्री-शिक्षा के विषय में लोगों को यह कहते हुए सुना गया है कि शिक्षिता होकर स्त्रियाँ स्वेच्छाचारिणी हो जाती हैं और पुरुषों की आधीनता में नहीं रहतीं। अतएव उन्हें निरक्षरा रखना ही उचित है! तात्पर्य यह कि पुरुष-समाज को यह

कदापि अभीष्ट नहीं कि स्त्रियाँ उनकी आज्ञा के ख़िलाफ़ चलें। वे स्त्रियों के भाग्य-विधाता ठहरे, स्त्रियाँ उनके विरुद्ध चलें, भला यह कैसे हो सकता है! जिस प्रकार एक विजेता जाति विजित जाति को अपने क़ाबू में रखने के लिए उसकी आत्मा का हनन कर डालना चाहती है, उसके आत्म-सम्मान को नष्ट कर देना चाहती है, जिससे वह हमेशा ग़ुलाम बनी रहे और विजेताओं के विरुद्ध सर न उठावे, ठीक उसी प्रकार हिन्दू-समाज का प्रत्येक पुरुष स्त्रियों को रखना चाहता है।

हिन्दू-समाज में बालिकाओं का जन्म अशुभ माना जाता है। जिस परिवार में बालिकाओं की वृद्धि होती है, लोगों का ख़याल है, उसका शीघ्र नाश हो जाता है, क्योंकि लड़कियों की शादी में, उच्चकुल में, तिलक-दहेज आदि में जो ख़र्च करना पड़ता है, वह कोई भुक्तभोगी ही जानता है। इसलिए इन सब सङ्कटों से बचने के लिए कुछ लोग बालिका का जन्म होते ही उसे नमक चटाकर या अन्य किसी उपाय से चुपके से मार डालते थे। आजकल भी यह निर्दय प्रथा एक दम नहीं उठ गई है। हाँ, क़ानून के भय से छिपकर ऐसा किया जाता है। कुछ समय पहले राजपूतों का यह ख़याल था कि अपनी लड़की

दूसरों को देना अपने हाथों अपना अपमान करना है। इस विचार से वे लड़कियों को जन्मते ही मार डालते थे। आजकल क़ानून के भय से राजपूतों की यह उजड्डता मिट रही है। इस प्रकार की हत्याओं से बच जाने पर भी लड़कियों का जीवन किसी प्रकार सुखमय नहीं होता। माता-पिता का बालिकाओं से उतना प्रेम नहीं होता, जितना कि बालकों से। लड़कों के आगे वे लड़कियों को तुच्छ समझते हैं और इस प्रकार उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं।

तिलक, दहेज आदि पुरुषों की इसी मनोवृत्ति के फल हैं, लड़कियों को तुच्छ तथा भार-स्वरूप जानकर ही, उनके साथ कुछ ऐसी रक़म या चीजें दी जाती हैं, जिससे वर-पक्ष को कन्या ग्रहण करने में कोई आपत्ति न हो, और वर-पक्ष भी इसी मनोवृत्ति से प्रेरित हो तथा कठिन सामाजिक-बन्धनों से कन्या-पक्ष को अपने वश में जानकर तिलक-दहेज में अधिकाधिक रक़मों की माँग पेश करता है।

स्त्रियों के प्रति पुरुषों की अमानुषिक मनोवृत्ति का ज्वलन्त उदाहरण पारिवारिक-जीवन में मिलता है। ऐसा कौन परिवार है, जहाँ आये-दिन स्त्रियाँ अत्याचार की चक्की में न पीसी

जाती हों ? पति के लिए स्त्री को डण्डे मारना, भाई के लिए बहिन की लात-घूसों से खबर लेना हिन्दुओं के पारिवारिक जीवन में एक महज़ मामूली बात है। एक 'सज्जन' और 'शिक्षित' पुरुष ने अपनी दो कुँआरी किन्तु वयस्क बहनों को केवल इसीलिए बड़ी बेरहमी से पीटा था कि उन्होंने उनकी आज्ञा मानने में ज़रा देर कर दी। एक सम्भ्रान्त कुल के वयस्क विद्यार्थी ने, जो हाई स्कूल के उच्चत्तम श्रेणी में पढ़ता था, अपनी बड़ी बहिन को केवल इसीलिए, अपनी माँ के आगे ही, पीटना शुरू कर दिया कि उसने उसे छोटा समझ कर उसकी अवहेलना की थी! एक प्रोफ़ेसर साहब ने अपनी रुग्णा भौजाई को चार भले आदमियों के सामने केवल इसी एक छोटी सी बात पर कि उसने होली के अवसर पर उन पर रङ्ग डाल दिया था, इतनी निर्दयता पूर्वक सता-सता कर मारा कि वह बेचारी महीनों बीमार पड़ी रही! एक ग्रेजुएट महोदय ने एक ब्राह्मणी को, जिसने उनकी माता की मृत्यु के बाद उन्हें अपना दूध पिला कर पोसा था, इसीलिए घसीट-घसीट कर पीटा कि उसने दुलार में उन्हें कुछ ऐसे शब्द कहे थे, जो उन्हें अपशब्द के समान खटके! ये हमारी आँखों देखी घटनाएँ हैं, इसलिए इनका

उल्लेख विशेष रूप से किया गया है। इसके अतिरिक्त, अपनी विवाहिता स्त्रियों पर जो लोग अत्याचार करते हैं, उसका तो उन्हें ईश्वरीय अधिकार प्राप्त है। (मानो) वेद, पुराण, स्मृति, रामायण, महाभारत जो कहिए सब, उन्हीं के पक्ष में हैं। वे मनमाना अत्याचार कर सकते हैं और समाज उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। हम कहेंगे, ये सब अत्याचार कुछ भी नहीं हैं। केवल डण्डे मारना और पाद-प्रहार करना एक साधारण और रोजमर्रा की बात है। हिन्दू-समाज में स्त्रियों पर तो ऐसे-ऐसे अत्याचार होते हैं कि पत्थर भी पसीज जाय! किन्तु हिन्दू-युवकों के हृदय से आह तक नहीं निकलती। शायद ख़ूनियों को फाँसी देने वाले जल्लाद, हिन्दुओं से अधिक सहृदय होते हैं, क्योंकि वे तो केवल एक झटके में प्राण ले लेते हैं, किन्तु हिन्दू-समाज के पुरुष, असहाया, परवशा अबला को तिल-तिल घुला-घुला कर मार डालता है, और उसके हृदय में लेशमात्र भी दया नहीं उपजती! यदि हमारे इस कथन पर अविश्वास हो तो ज़रा ध्यान से अपने ही घर में दृष्टि दौड़ाइए। शायद आपने रोजमर्रा की बात समझ कर कभी उस पर ध्यान नहीं दिया होगा। यदि संयोगवश, आपके घर में ऐसा कोई दृष्टान्त न

मिल सके, तो गाँवों में चले जाइए। अवश्य ही आये-दिन एक न एक महिला के पीटे जाने का दृश्य देखेंगे।"

इस तरह इस पुरुष जाति के स्वार्थ और आडम्बर ने देश को कैसा गिराया यह कहने की आवश्यकता नहीं। अपने एक अंग का इस तरह सर्वनाश कर भारत और भारतीय निश्चय ही अपने किये के अनुसार फल भोगते रहे हैं, और आगे भोगने की संभावना है, वस्तुतः इनको अपनी आँखें खोल देनी चाहिये। स्त्री-जाति का आदर करके ही यह संसार में अक्षय सुख की प्राप्ति कर सकते हैं। यही मनु का कहना है। इसके विपरीत करने से वे कहते हैं:—

जामयोयानि गेहानि शपन्त्य प्रतिपूजिताः।
तानिकृत्या हतानीव विनश्यन्ति समन्ततो ॥

मनु० ३—५८

जिन घरों में स्त्रियाँ सम्मान नहीं पातीं, उन्हें वे श्राप देती हैं, जिसके परिणाम स्वरूप वे घर बरबाद हो जाते हैं।

इसलिये देश जाति और अपने गृह की भलाई चाहने वाले पुरुषों को चाहिये कि वे स्त्री जाति का सम्मान करें।

अपनी दुर्दमनीय इन्द्रिय-लिप्सा का क्षेत्र भी संकुचित करें। पर-पत्नी को माँ, बहिन, बेटी समझ कर संभाषण करें। यही उनकी उन्नति का मार्ग है।

विवाह का प्रयोजन

देवदत्तां पतिर्भार्यां विन्देतेनेच्छयात्मनः
तां साध्वीं विभृयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन् ॥

मनु० ९—९५

"हमारे ऊपर समाज का नियंत्रण अत्यन्त आवश्यक है, नहीं तो धीरे-धीरे हमारा जीवन किसी भी योग्य नहीं रह जायगा। विवाह का उद्देश्य काम-वासना की तृप्ति ही नहीं है।"

—ऑगस्ट कॉमटे

विवाह के विषय में जैसा कि पिछले प्रकरण में हम संकेत रूप से बता आये हैं कि भारत में भी इस विचार का आविर्भाव जोरों से हो रहा है। अनेकों युवतियाँ विवाह के प्रति घृणा की दृष्टि से देखती हुई दृष्टिगत् हो रही हैं। जिसके

कारण का भी उल्लेख किया जा चुका है। उनका कहना है—"विवाह एक भयंकर बंधन है।" इसी आधार पर वे विवाहित-जीवन के उस आनंद का तिरस्कार करती हुई दिखाई दे रही हैं, जिसकी मर्यादा भारत में सर्व-श्रेष्ठ मानी गई है। जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा। यही नहीं, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष-जाति में भी इस भाव का संचार जोरों से हो रहा है, वे भी विवाह-प्रथा की जोरों से खिल्लियाँ उड़ाते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनका कहना है—"जहाँ प्रेम नहीं, जहाँ हृदय की एकता नहीं, जहाँ का जीवन निरानन्द बीतता है, वह कृत्य, वह प्रथा, सर्वथा हेय है; उससे लाभ की संभावना करना एक भारी भूल है!"

यद्यपि यह बात बहुत अंशों तक ठीक है, इसलिये विवाह के प्रति घृणा का होना स्वाभाविक है। इसमें कोई आश्चर्य और रहस्य की बात नहीं। सचमुच जहाँ प्रेम नहीं, जहाँ हृदय की एकता नहीं, जहाँ का जीवन आनन्द-विहीन है, निसंदेह ऐसी स्थिति में उसकी उत्कृष्टता को प्रमाणित करना कोई सरल बात नहीं। ऐसी प्रथा से लाभ के बदले हानि की संभावना संभव है। परन्तु इसका उत्तर-दायित्व विवाह के रूप पर नहीं। इसका उत्तरदाता वर्तमान रीति-रिवाज और भारत के वे बूढ़े माता-

पिता हैं, जिनके हाथों में समाज की बागडोर है। यदि यह आँख के अंधे होते, तो कहा जा सकता था कि अंधे होने के कारण भूल हो पड़ी है, परन्तु नहीं, उनके आँखें हैं, एक नहीं, दो नहीं, इस महान् कार्य में सैकड़ों आँखें सहयोग देती हैं। इस पर भी परिणाम वही जो इनके अंधा होने को ही सार्थक करता है।

हम यह जानते हैं—यद्यपि वे संतान की भलाई की सर्वदा कामना रखते हैं, वे अपनी धारणानुसार अपनी संतान को ऊँची चौकी देते हैं, परन्तु वह चौकी न होकर कुँए का जगत् होता है। जिसमें बहुतेरे बालक और बालिकायें अब तक गिराई जाकर भारत के स्वच्छ और निर्मल इतिहास के पृष्ठों को दूषित करती रही हैं। अब बताइये, इन आँख वालों को क्या कहा जाय? जिनके प्रयत्नों में नित्य ही अनेकों बालक-बालिकायें अपने उत्तर-दायित्व को समझने से पूर्व ही इस विवाह-रूपी-कूप की मंडूक बना दी जाती हैं। जिसके परिणाम स्वरूप भारत की अब तक जो दशा रही है, वह निकट भविष्य ही में इस बूढ़े भारत की मृत्यु की सामग्री है। जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही सहस्रों की संख्या में नित्य ही भ्रूण हत्यायें होते हुये दृष्टिपात होते थे और हो रहे हैं। लाखों की संख्या में विधवायें अपने

अश्रु-विन्दुओं की गहन-वर्षा करके इस पवित्र भारत-भूमि को सराबोर कर रही थीं और फिर भी अभी तक यह समस्या हल नहीं हुई है। कौन जाने, इन विधवाओं की आह में इस भारत की क्या अवस्था होगी?

वे नन्हें-नन्हें बालक और बालिकायें जिनके दूध के दाँत अभी वैसे ही मोतियों से झलक रहे हैं, जिनके कोमल अंग अभी शौर्यता को नहीं उपलब्ध कर सके हैं, जिनको नहीं मालूम कि हम दोनों को एकत्र होकर क्या करना है? हम दोनों हैं कौन? हम दोनों के एकत्र होने का प्रयोजन क्या है? इस प्रयोजन का क्षेत्र कितना बड़ा है? वे इस महान् उत्तर-दायित्व के भार से लाद दिये जाते हैं। शोक! शोक!! और महा-शोक!!!.....धिक्कार है, उन माता-पिताओं को जो अब तक उसी लकीर को पीटते चले जा रहे हैं। यही तो कारण है कि भारत का आधुनिक-शिक्षित-समाज इनके इन कृत्यों की उपेक्षा करता है। परन्तु फिर भी यह अपनी अहमन्यता के कारण उनका तिरस्कार ही किये जाते हैं। सोचते नहीं कि इनके हँसने का कारण क्या है?

भारत में सब से बड़ी बात तो भाग्य की है। इन अंधे

भारतवासियों को यदि किसी अच्छाई की ओर ले चलने का आदेश दिया जाता है तो यह शीघ्र ही भाग्य की समस्या सामने रख देते हैं, जिससे भारत का सर्वदा सर्वनाश होता आया है। आगे पता नहीं, यह भाग्य, भारत को किधर ले जायगा ? यह अंधे यह नहीं सोचते कि भाग्य तो मनुष्य बनाया करता है। जो कुछ परिणाम हमारे सामने उपलब्ध होता है वह हमारे ही दुष्कृत्यों का फल होता है। फिर भी आँख बंद करके कार्य किये ही जाना हमारा ध्येय क्यों होना चाहिये ?

प्राचीन-काल में विवाह, बालक और बालिका जब अपने-अपने उत्तरदायित्व को समझने लगते थे, तब होता था, आज-कल की भाँति वह गुड्डे गुड़ियों का खेल नहीं था। साथ ही बालक-बालिका के समान लक्षणों पर विशेष रूप से दृष्टि रक्खा जाता था। इसलिये कि गार्हस्थिक जीवन पर बहुत बड़ा उत्तर-दायित्व है। जिसकी चरचा आगे चल कर करेंगे। पश्चिमीय संसार इस उत्तरदायित्व की अवहेलना करता है। उसे इसका पूर्ण ज्ञान नहीं। वह तो गार्हस्थिक जीवन को काम-वासना की पूर्ति होने का केवल सहायक-मात्र समझता है। इसीलिये भारतीय आदर्श के सम्मुख वह तुच्छ है।

यद्यपि यह सभी जानते हैं कि पति-पत्नी अर्थात् स्त्री-पुरुष में परस्पर मैथुन की इच्छा प्राकृतिक है। इसके परिणाम स्वरूप सन्तानोत्पत्ति भी निश्चित है। जिसे भारतीय-शास्त्रकारों ने इस रूप में स्वीकार किया है:—

प्रजानार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवः।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौपत्न्या सहोदिताः॥

मनु० ९—९६

अर्थात् स्त्रियों की रचना प्रजन (गर्भ धारण) करने के लिये हुई है और पुरुषों की रचना गर्भाधान करने के लिये। यही पति-पत्नी, अर्थात् स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक धर्म समान-रूप से वेद में बतलाया गया है।

यह स्वाभाविक-धर्म स्त्री-पुरुष का अपना-अपना गुण है, जिसे वेद ने बतलाया है। परन्तु मनुष्य एक बुद्धिमान प्राणी है, यद्यपि वह प्रकृति से शिक्षा लेता है, परन्तु फिर भी उसके सामने वह एक दम सिर नहीं झुका देता। वह अपनी बुद्धि का भी उपयोग किया करता है। भारतीय सभ्यता का सम्पूर्ण इतिहास इस बात का साक्षी है और समस्त-विश्व इसका अनुकरण करता आ रहा है।

भारतीय-मानव-समाज ने यद्यपि प्रकृति से स्त्री और पुरुष के सहगमन की शिक्षा ली तथापि अपनी बुद्धि का सदुपयोग करना भी उसने आवश्यक समझा। जिसके परिणाम-स्वरूप उसे यह भी अनुभव हुआ कि प्रकृति कहती है कि—"सहगमन का मन में संचार होते ही मैथुन कर्म में शीघ्र ही रत् न हो जाना चाहिये। क्योंकि मनुष्य जीवन के प्रारम्भिक उत्कर्ष की अवस्था में स्थिति अपरिपक्व रहती है। इस बात की शिक्षा हम मनुष्य-जीवन से ही नहीं वनस्पतियों से भी ले सकते हैं। इसलिये जिस समय इस भावना का संचार प्रसारित होता है उस समय से लेकर स्त्रियों के लिये कम से कम तीन वर्ष और पुरुषों के लिये कम से कम पाँच वर्ष और अलग कर देना चाहिये, ताकि उनकी प्रवृत्ति और तत्सम्बन्धी अवयव परिपक्व हो जायें। मनु ने इसी भाव को इस संकेत में लिखा है:—

त्रीणि वर्षाण्यु दीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु काला देतस्माद्विन्देत सदृशंपतिम्॥

मनु० ९—९०

रजस्वला कन्या तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त अपने समान गुण कर्म स्वभाव वाले को नियम-पूर्वक विवाह कर अपना पति बना ले। अस्तु—

इससे यह प्रमाणित होता है कि तीन वर्ष बाद उसकी स्थिति परिपक्व होने के साथ-साथ उसका अनुभव-क्षेत्र भी विकसित होगा। अनुभव-क्षेत्र का विकसित होना बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि गार्हस्थिक-जीवन पर एक महान् उत्तर-दायित्व है। जिसका संकेत हम आगे कर चुके हैं। इस उत्तर-दायित्व से अनभिज्ञ होने के कारण ही आज भारत का दाम्पत्य-जीवन विषम बन रहा है।

यह मैं आगे बतला चुका हूँ कि स्त्री और पुरुष में काम संचार होने का प्रधान प्राकृतिक उद्देश्य है संतानोत्पत्ति। परन्तु काम का संचार अथवा मनुष्य के जीवन में उत्कर्ष, जिस अवस्था में होता है, उस अवस्था में दोनों की स्थिति अपरिपक्व रहती है। दोनों की नस-नाड़ियाँ एवं रज-वीर्य कच्चे तथा अपूर्ण रहते हैं। उनसे संतानोत्पत्ति कराना भूल है। ऐसी स्थिति में संतानोत्पत्ति के कार्यों में लगा देने से दोनों कुछ ही काल में रोग-ग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अतएव यह

जानना चाहिये कि यह स्थिति संतानोत्पादन-शक्ति के आगमन की सूचना मात्र है। उसके विकसित होने में कुछ समय लगना स्वाभाविक ही है। अस्तु:—

इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रख कर भारतीय ऋषियों ने आश्रम-प्रणाली का निर्माण किया था जिसमें ब्रह्मचर्याश्रम की महत्ता यह है कि आगे आने वाले गृहस्थाश्रम के भार को सफलता-पूर्वक उठाने के लिये स्त्री और पुरुष अपने को योग्य बनावें। परन्तु इस प्रकार की योग्यता केवल शारीरिक पवित्रता से नहीं प्राप्त हो सकती। इसके लिये मन, वचन, कर्म से प्रयत्न करना होता है। अन्यथा भयंकर हानि की संभावना होती है। क्योंकि कामना-शक्ति का जब प्रादुर्भाव होता है हमारी इन्द्रियाँ तनाव में आती हैं, उस समय इनके लिये वाह्न-उत्तेजक सामग्री बहुत ही हानिकर है। अतः उन्हें उत्तेजक पदार्थों का दर्शन स्पर्शन न होना ही उपयोगी है अर्थात इन्हें आराम की (उत्तेजना न मिलने की) आवश्यकता है। अन्यथा यदि उन्हें बहुत देर तक तनाव में रहना पड़ा तो स्मरण रहे कि नस-नाड़ियों को जबर्दस्त क्षति पहुँचती है और फल-स्वरूप बहुमूत्र दोष, शिथिलतादि कई प्रकार के शारीरिक रोग

होने की संभावना रहती है। इसीलिये भारतीय-समाज-शास्त्रियों ने ब्रह्मचर्यावस्था का संपूर्ण समय गुरुकुलों में समाप्त करने और बालक-बालिकाओं के दर्शन स्पर्शन को इस अवस्था में अंगीकार नहीं किया है।

जिस गृहस्थाश्रम की चर्चा मैं ऊपर कर आया हूँ और जिसके महान्-उत्तरदायित्व की ओर मैं संकेत कर चुका हूँ, वह कैसा और क्या है? मैं अब पाठकों का ध्यान इस ओर ले चलना चाहता हूँ।

यद्यपि ब्रह्मचर्य को धारण करना अति आवश्यक है, किन्तु उत्तेजक-दृश्य और पदार्थ भी हानिकर है। इसलिये कि उत्तेजक दृश्य और दर्शन से कामना-शक्ति का निरन्तर विकास होता है जिसके फल-स्वरूप मनुष्य विषय का चिन्तन करने लगता है। अतः मन को कामना-शक्ति से वंचित रखने के लिये प्रारंभ में उसको एकान्त सेवन ही हितकर है। इससे बालक-बालिका रज-वीर्य को बिना विघ्न-बाधा पुष्ट कर लेते हैं। पुनः जब वे गृहस्थाश्रम में पग रखते हैं उन्हें किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता। वे बड़ी आसानी से गृहस्थाश्रम को संचालित करने में सफल सिद्ध होते हैं।

गृहस्थाश्रम वह स्थान है जहाँ दो भिन्न-भिन्न संस्कारी-आत्माओं का मेल होता है। वे परस्पर एक दूसरे के निकट प्रेम का चित्र, चित्रित करते हैं। एक दूसरे को अपने हृदय में स्थान देते हैं। उनको यह भूल जाना पड़ता है कि हम पति-पत्नी दो भिन्न-भिन्न शरीर-धारी आत्मा हैं। मनुष्य की इस स्थिति का नाम है 'आत्मिक विकास'—जिसका चित्रण श्रीमती चंद्रावती लखनपाल एम० ए० ने अपनी पुस्तक स्त्रियों की स्थिति में इस रूप में रक्खा है। जिसे हम पाठकों के अवलोकनार्थ संक्षिप्त रूप से यहाँ उद्धृत करते हैं:—

"प्राचीन-काल के ऋषि-मुनि मनुष्य-जीवन को एक समस्या समझते थे और उसके हल करने में उन्होंने अपने ऊँचे से ऊँचे विचारक लगा रक्खे थे। मनुष्य-जीवन की समस्या को उन्होंने जो हल किया था। उसी को आधार बनाकर यहाँ के समाज की रचना की गई थी, उन्होंने जीवन को सफल बनाने के लिये जीवन का एक आदर्श निर्धारित किया था, जिसके अनुसार इस देश में उत्पन्न हुआ प्रत्येक व्यक्ति आचरण करता था।

"यदि जीवन सचमुच एक समस्या है, अचानक था

आकस्मिक घटना नहीं, तो इस समस्या का हल अवश्य होना चाहिये। इसे एक खिलवाड़ की चीज़ नहीं समझना चाहिये। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इस समस्या का हल जीवन को एक निश्चित आदर्श में बांध कर किया था। वह क्या था? यजुर्वेद में कहा है:—

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥

"जो व्यक्ति सब आत्माओं को अपने अंदर देखता है और अपने को सब में देखता है, वह संदेहों से ऊपर उठ जाता है, निश्चयात्मक जीवन व्यतीत करता है। अपने को अंदर देखने वाले तो सब हैं, परन्तु दूसरे में अपनापन अनुभव करना जीवन का एक विलक्षण, विरला भारतीय-आदर्श है। मनुष्य की अंतरात्मा का विकास इसी को कहते हैं।

"आज हमारे शहरों की गलियों में सैकड़ों भूखे नंगे कराहते फिरते हैं, परन्तु क्या उनके दुःख को देख, कर किसी के हृदय में कराहना उठती है? क्या कोई उनकी तड़पन का अनुभव करता है? क्या कोई यह अनुभव करता है कि वे

भी मानव-समाज के अंग हैं, जिसके हम अपने को अंग समझते हैं ? यदि सचमुच किसी के हृदय में यह भाव उठते हैं, तो वेद की दृष्टि में उसकी आत्मा विकसित है, वह अपने आदर्श की तरफ़ जा रहा है, नहीं तो धन-धान्य से समृद्ध होने पर भी हम उस पत्थर के समान हैं, जिस पर हजारों प्राणियों का प्रति-दिन वध होता है। परन्तु आत्मा न होने के कारण उसका एक आँसू भी नहीं निकलता।"

यह है मनुष्य-जीवन का वैदिक आदर्श जिसे मनु ने इन शब्दों में लिखा है कि—

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।

मनु ९—४५

अर्थात् स्त्री अपना शरीर और सन्तति ये तीनों मिल कर एक पुरुष कहलाता है। अस्तु:—

गृहस्थाश्रम के अंतर्गत स्थित होने वाले प्राणियों को अपनी आत्मा का विकास इतना करना चाहिये कि वह दूसरे को भी अपने तन में खपा सकें। वे परस्पर एक दूसरे में हिल-मिल कर इस रूप में हो जावें कि:—

न निष्क्रिय विसर्गाभ्यां भर्तुभार्या विमुच्यते।
एवं धर्म विजानीयः प्राक् प्रजापति निर्मितम् ॥

मनु० ९—४६

बेचने से, त्यागने से, स्त्री और पुरुष परस्पर एक दूसरे से कभी न छूटें। यही सृष्टि के आरंभ से परमात्मा का रचा हुआ मानुषिक-जीवन का कर्तव्य और उनकी आत्मा का विकसित रूप है। इसलिये कि:—

सकृदंशो नियतति सकृत्कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥

मनु० ९—४७

मनुष्य-जीवन उत्कृष्ट-जीवन है। इसकी श्रेष्ठता इसी में है कि इस जीवन में भाग एक ही बार किया जाता है और कन्यादान एक ही बार होता है तथा एक ही बार वचन दिया जाता है, सज्जन और श्रेष्ठ पुरुषों की यह तीन बातें एक ही बार होती हैं।

इस आदर्श को क्रियात्मक रूप देने के लिये ऋषियों ने जो उपाय सोचा था, वह है—आश्रम-प्रणाली! जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। किसी ने कहा है:—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृति विधानतः ।
गृहस्थ्य उच्यते श्रेष्ठः सत्रीनितान् विभर्तिहि ॥

वेद स्मृति के प्रमाण से, सब आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है, क्योंकि यही आश्रम तीनों का धारण और पालन करता है।

सचमुच दृष्टि फैला कर आप देखें तो आपको दिखाई देगा कि जहाँ स्त्री और पुरुष परस्पर मित्र की भाँति रहते हैं, वहाँ कितना आनन्द और उत्कर्ष होता है, उस आनन्द के बीच अन्य व्याकुल हृदय भी अपना दुःख भूल जाता है। संसार के छोटे से छोटे जीव से लेकर बड़े-बड़े आत्म-त्यागी संन्यासी तक इन गृहस्थों के सहारे ही जीते हैं। द्वार पर कुत्ता तक दुम हिलाता खड़ा रहता है। इसीलिये कहा:—

यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजंतवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥

मनु० ३—७७

अर्थात, जिस प्रकार वायु के सहारे संसार में सब प्राणियों का जीवन है, उसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रित हैं।

यह बिलकुल सत्य है, जिस घर में घरनी नहीं, उस घर में चूहे ही लोटते हैं और जहाँ पुरुष नहीं, संसार में उस घरनी की अवस्था भी बड़ी ही विषम होती है। दोनों भागों का भार एक कंधे पर उठाना बड़ी ही कठिनाई का सामना करना है। इसी-लिये कहा:—

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेंद्रियः ॥

मनु० ३—७९

जिसे अक्षय सुख की इच्छा हो, जो इस लोक और परलोक दोनों को आनन्द-बनाना चाहता हो वह यत्न युक्त पूर्वक गृहस्थाश्रम का पालन करता हुआ जीवन बितावे। परन्तु गृहस्थाश्रम का पालन दुर्वल-इन्द्रियों से नहीं किया जा सकता। इसीलिये भारतीय सभ्यता में यह आवश्यक ठहराया गया है कि बालक और बालिकायें युवावस्था प्राप्त करने के समय तक अलग अलग रह कर उस शक्ति को संचित करें जिसकी उपयोगिता गार्हस्थ्य-जीवन में देखने को मिलती है। बाल्यकाल से इन्द्रिय-संयमित मनुष्य पूर्ण यौवनावस्था में

अपनी अतुल प्रतिभा को वखेरने में सफल सिद्ध है। इस संबंध में अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

दुर्बलेन्द्रिय कौन है ?—जिसका मन अस्थिर है, जिसके विचार अस्थिर हैं, जिसके सिद्धान्त अस्थिर हैं। ऐसों को संसार में मार्ग नहीं मिलता। वे नित्य ठोकर खाते इधर से उधर मारे-मारे फिरते हैं। वे गार्हस्थिक-जीवन के अक्षय-सुख को क्या जानें ? यही दशा आज योरप की है। जिसका अन्धानुकरण भारतीय समाज करने जा रहा है।

"अमुक स्त्री ने अमुक पुरुष से चार पाँच दिन हुए शादी की थी; उसने आज कोर्ट में उपस्थित होकर यह सूचना दी है कि आज मैं उससे सम्बन्ध-विच्छेद करती हूँ।"

"अमुक पुरुष ने अमुक स्त्री से अमुक दिन शादी की थी उसने अमुक दिन उपस्थित होकर यह सूचित किया कि मैंने आज उसका परित्याग कर दिया।"

इस प्रकार की घटनायें योरोपीय प्रदेशों में नित्य घटती हैं। यह चट-विवाह और पट-तलाक़ की प्रथा बहुत बुरी है। जिसका कारण भी बहुत छोटा मोटा होता है। जो भारतीय आदर्श के अनुकुल नहीं। यद्यपि यह बात नहीं है कि मनु ने

तलाक़ को स्वीकार ही नहीं किया है। प्रत्युत वे इसकी आवश्यकता समझते हैं, परन्तु अवस्था विशेष में, विषम परिस्थिति के उपस्थित होने में; जिसका चित्रण तलाक़-समस्या में कराया जायगा। हाँ! कट्टर पंथियों ने मनु के इस तलाक़-विधान को तो बिलकुल दबा ही दिया है, जिससे भारतीय स्त्री-समाज सदियों से कष्ट पाता रहा है और पुरुषों को प्रोत्साहन मिलता रहा है।

ऊपर मनु ९—४६ के श्लोक में यह बताया गया है कि स्त्री और पुरुष परस्पर एक दूसरे में अपनी आस्था इस प्रकार रक्खें कि बेचने और त्यागने से भी परस्पर न छूट सकें—क्योंकि श्रेष्ठ और सज्जन स्त्री-पुरुषों की श्रेष्ठता प्रकट करने में—उनके द्वारा जीवन-पर्यंत के लिये किये हुए समझौते का निर्विघ्न निर्वाह ही समर्थ होगा। इसलिये कि श्रेष्ठ जीवन में वचन एक ही बार होता है। वचन प्रतिज्ञा है, और प्रतिज्ञा का भंग करना अमानुषिक कृत्य है। यह बंधन कदापि नहीं। स्वामी दयानंद ने ऋ० मं० १० सूक्त ८५ मंत्र ४७ का उद्धरण देकर इस चित्र का चित्रण कराया है कि प्राचीन-काल में अथवा हिन्दू-धर्म में स्त्री और पुरुष के विवाह का क्या रूप था और उसमें क्या प्रयोजन

निहित है। जिसमें पति और पत्नी परस्पर एक दूसरे को अपनी इच्छा के अनुकूल चुनते थे। यद्यपि समाज का हाथ रहता था, परन्तु आज कल की भाँति पति-पत्नी का चुनाव सर्वथा माता-पिता पर ही निर्भर नहीं था। मनु ने भी "गुरुणानुमता स्नात्वा समावृत्तो विधीयते। उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्" लिख कर यह बतलाया है कि पति-पत्नी का चुनाव उनकी इच्छा पर ही निर्भर होना चाहिये। अन्य कृत्य अर्थात् विधि-पूर्वक कन्या-दान आदि पिता-माता पर अवलंबित है।

प्राचीन-काल की इस प्रथा का ऋग्वेद द्वारा स्वामी जी इस प्रकार उल्लेख करते हैं:—

"वर और कन्या बोलें कि हे (विश्वे देवाः) इस यज्ञ-शाला में बैठे हुए विद्वान् लोगों! आप हम दोनों (समञ्जन्तु) निश्चय करके जानें कि अपनी प्रसन्नता-पूर्वक गृहस्थाश्रम में एकत्र रहने के लिये स्वीकार करता वा करती हूँ कि (नौ) हमारे दोनों के (हृदयानि) हृदय (आपः) जल के समान (सम्) शान्त और मिले हुए रहेंगे। जैसे (मातरिश्वा) प्राण-वायु हमको प्रिय है वैसे (सम्) हम दोनों एक दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे, जैसे (धाता) धारण करनेहारा परमात्मा सब

(सम्) मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है वैसे हम दोनों एक दूसरे का धारण करेंगे, जैसे (समुदेष्ट्री) उपदेश करने हारा श्रोताओं से प्रीति करता है वैसे (नौ) हमारे दोनों की आत्मा एक दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को (दधातु) धारण करे।"

यह है भारतीय-जीवन का स्थाई समझौता, जो दोनों के अन्तर्स्थित अखंड प्रेम और परस्पर की श्रद्धा का द्योतक है, जो विकसित आत्मा का विशाल स्वरूप है। जो एक निश्चित अवधि अर्थात् जीवन-पर्यंत तक के लिये होता था। इसके बीच वे एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी कभी नहीं होते थे। परन्तु आज इस प्रतिज्ञा का कोई महत्त्व नहीं है। पश्चिम में तो इसको स्थान ही नहीं है और भारतीय जन-समुदाय तो इसका सदुपयोग ही नहीं जानता। वह तो स्त्री और पुरुष को विवाह रूपी रस्सी बना कर बांधना जानता है। पुनः जिसके बीच सदाचार और पारस्परिक प्रेम को स्थान मिलने की अनुचित कल्पना करता है, जो सर्वथा असंभव है।

परस्पर संबंध करने के उपरान्त युगल-दम्पति सर्वदा प्रयत्न करते रहते थे कि दोनों के भाव परस्पर सदा मिले रहें और

इसमें सफलता पाने के लिये वे परमात्मा से नित्य प्रति प्रार्थना करते थे। इसी भाव को स्वामी जी अपनी संस्कार विधि पृष्ठ १५३ में इस प्रकार लिखते हैं:—

"हे वरानने (अपतिघ्नि) पति से विरोध न करनेहारी तू जिसके (ओम्) अर्थात् रक्षा करने वाला (भूः) प्राणदाता (भुवः) सब दुःखों को दूर करनेहारा (स्वः) सुख स्वरूप और सब सुखों के दाता आदि नाम हैं उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से हे! (अघोरचक्षुः) प्रिय-दृष्टि (एधि) हो (शिवा) मङ्गल करनेहारी (पशुभ्यः) सब पशुओं को सुखदाता (सुमनाः) पवित्रान्तःकरणयुक्त, प्रसन्न-चित्त (सुवर्चाः) सुन्दर शुभ गुण, कर्म, स्वभाव और विद्या से प्रकाशित (वीरसूः) उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी, (देवृकामा) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी (स्योना) सुख युक्त होके (नः) हमारे (द्विपदे) मनुष्यादि के लिये (शम्) सुख करनेहारी (भव) सदा हो और (चतुष्पदे) गाय आदि पशुओं को भी (शम्) सुख देनेहारी हो वैसे ही मैं तेरा पति वर्त्तों करूँ।" ऋ० १०—८५—४४।

"हे वरानने ! जैसे मैं (सौभगत्वाय) ऐश्वर्य सुख सन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिये (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (गृभ्णामि) ग्रहण करता हूँ तू (मया) मुझ (पत्या) पति के साथ (जरदष्टिः) जरावस्था को सुख-पूर्वक प्राप्त (आसः) हो तथा (अब स्त्री कहती है) हे वीर ! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आपके हस्त को ग्रहण करती हूँ आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यंत प्रसन्न और अनुकूल रहिये। आपको मैं और मुझको आप आज से पति-पत्नी भाव करके प्राप्त हुए हैं (भगः) सकल ऐश्वर्य-युक्त (अर्यमा) न्यायकारी (सविता) सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता (पुरन्धिः) बहुत प्रकार के जगत् का धर्त्ता परमात्मा और (देवाः) ये सब सभा-मण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग (गार्हपत्याय) गृहाश्रम कर्म के अनुष्ठान के लिये (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझे (अदुः) देते हैं। आज से मैं आपके हस्ते और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं, अर्थात् एक दूसरे को परस्पर समर्पित कर चुके हैं, कभी एक दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे।"

प्राचीनकाल में विवाह का प्रयोजन क्या था ? यह ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट हो रहा है। स्त्री और पुरुष परस्पर गृहस्थाश्रम

की पूर्ति के लिये संबद्ध होते थे। सज्जनों के बीच उनके परस्पर के हृदय के विचार प्रतिज्ञा-स्वरूप रक्खे जाते थे। स्त्री और पुरुष परस्पर की उस समय की, की हुई प्रतिज्ञा का आजीवन पालन करते थे। सभा-मण्डप में बैठे हुए लोग उनकी इस प्रतिज्ञा के साक्षी होते थे। सभ्यता, शिष्टता और मर्यादा के साथ दोनों का आनंदकारी संबंध होता था। संसार उसी दिन से अनुभव करने लगता था कि यह पति-पत्नी या युगल-दम्पति हैं। वे दोनों एकत्र होकर गार्हस्थ-जीवन को धारण करते थे। वर के पिता-माता और कन्या के पिता-माता अर्थात् दोनों ओर के परिवार इनकी शुभ कामना करता था। पुनः वे युगल-दम्पति प्रेम, श्रद्धा और कर्तव्य समझ कर गृहस्थी का संचालन कर संसार को सुखी बनाते थे। यही बात मनु के आरंभ में दिये गये श्लोक में छिपी है कि:—

"पति को पत्नी उसकी अपनी इच्छा से नहीं प्राप्त हुई है, प्रत्युत उसे देवताओं ने दिया है, क्योंकि उसने देवताओं के सदृश आचरण करने की प्रतिज्ञा की है।"

इसका प्रयोजन यह है कि यद्यपि स्त्री और पुरुष परस्पर अपनी इच्छा से एक दूसरे का वरण करते थे। परन्तु जब उनके

इस वरण कर्म को उनके माता-पिता के सहित समाज उनके गुण, कर्म, स्वभाव को तुलनात्मक दृष्टि से देख कर स्वीकार कर लेता था तो वह संबंध उत्कृष्ट और पुष्ट माना जाता था। इसे धार्मिक सम्बन्ध कहते हैं। जो संसार, कुल और अपने कल्याण के लिये किया जाता था। यद्यपि इस विवाह-कर्म का उत्तर-दायित्व वर और कन्या दोनों पर ही रहता था, परन्तु विशेष रूप में यदि कभी दोनों के बीच विषम-समस्या उपस्थित हुई तो समाज उसकी जाँच पड़ताल कर अपराधी को दण्ड देता था। क्योंकि समाज के सम्मुख पति-पत्नी एक दूसरे से मिलकर गृहस्थ-जीवन के संचालन की प्रतिज्ञा करते और परस्पर कहते थे:—

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥

अथर्व० कां० १४—सू० १—५१

"हे प्रिये! (भगः) ऐश्वर्य-युक्त मैं (ते) तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण करता हूँ तथा (सविता) धर्म-युक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे (हस्तम्) हाथ को (अग्रभीत्) ग्रहण कर चुका हूँ। (त्वम्) तू (धर्मणा) धर्म से मेरी पत्नी—

भार्या (असि) है और (अहम्) मैं धर्म से (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति हूँ, अपने दोनों मिल के घर के कामों की सिद्धि करें और जो दोनों का अप्रियाचरण (व्यभिचार) है उसको कभी न करें, जिससे घर के सब काम सिद्ध होकर उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती होती रहे।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम्॥

अर्थ० कां० १४ सूक्त १—५२

"हे अनघे! (बृहस्पतिः) सब जगत् को पालन करने हारे परमात्मा ने जिस (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझे (अदात्) दिया है (इयम्) वही तू जगत् भर में मेरी (पोष्या) पोषण करने योग्य पत्नी (अस्तु) हो, हे (प्रजावति) तू (मया, पत्या) मुझ पति के साथ (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतु अर्थात् सौ वर्ष पर्यंत (शं जीव) सुख-पूर्वक जीवन धारण कर। वैसे ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे कि—हे भद्रवीर! परमात्मा की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हैं, मेरे लिये आपके बिना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करनेहारा

देव कोई नहीं है। न मैं आपसे अन्य दूसरे किसी को मानूँगी, जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री से प्रीति न करोगे वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव के साथ न वर्त्ता करूँगी, आप मेरे साथ सौ वर्ष पर्यंत आनन्द से प्राण धारण कीजिये।"

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभेकं वृहस्पतेः प्रशिषकवीनाम्। तेनेमां नारी सविता भगश्च सूर्यामिव परिधत्तां प्रजया॥

अथर्व० कां० १४ सूक्त १—५२

"हे शुभानने! जैसे (वृहस्पतेः) इस परमात्मा की सृष्टि में और उसकी तथा (कवीनाम्) आप्त विद्वानों की (प्रशिषा) शिक्षा से दंपति होते हैं (त्वष्टा) जैसे बिजुली सब को व्याप्त हो रही है वैसे तू मेरी प्रसन्नता के लिये (वासः) सुन्दर वस्त्र (शुभे) और आभूषण तथा (कम्) मुझसे सुख को प्राप्त हो, इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा (व्यदधात्) सिद्ध करे जैसे (सविता) सकल जगत् की उत्पत्ति करने हारा परमात्मा (च) और (भगः) पूर्ण ऐश्वर्य युक्त (प्रजया)

उत्तम प्रजा से (इमाम्) इस मुझ (नारीम्) मुझ नर की स्त्री को (परिधत्ताम्) आच्छादित, शोभायुक्त करो, वैसे मैं (तेन) इस सब से (सूर्याम् इव) सूर्य की किरण के समान तुझको वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके (प्रजया) ऐश्वर्य वस्त्राभूषण आदि से सदा आनन्दित रक्खूँगी।

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रा वरुणा भगो अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु॥

अथर्व० कां० १४ सूक्त १—५४

हे मेरे सम्बन्धी लोगो! जैसे (इन्द्राग्नी) बिजुली और प्रसिद्ध अग्नि (द्यावा पृथिवी) सूर्य और भूमि (मातरिश्वा) अन्तरिक्षस्थ वायु (मित्रावरुणा) प्राण और उदान तथा (भगः) ऐश्वर्य (अश्विना) सद्वैद्य और सत्योपदेशक (उभा) दोनों (बृहस्पतिः) श्रेष्ठ न्यायकारी बड़ी प्रजा का पालन करने हारा राजा (मरुतः) सभ्य मनुष्य (ब्रह्म सबसे बड़ा परमात्मा और (सोमः) चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधीगण सब प्रजा

की वृद्धि और पालन करते हैं वैसे (इमां नारीम्) इस मेरी स्त्री को (प्रजया) प्रजा से बढ़ाया करते हैं वैसे तुम भी (वर्धयन्तु) बढ़ाया करो। जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूँगा वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस मेरे पति को सदा आनन्द ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूँगी। जैसे ये दोनों मिल के प्रजा को बढ़ाया करते हैं वैसे तू और मैं मिल के गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें।

अहं विष्यामि मयि रूपमस्या वेददित्प-श्यन्मनसा कुलायम्। न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयंश्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥

अथर्व० का० १४ सूक्त १—५८

हे कल्याणक्रोडे ! जैसे (मनसा) मन से (कुलायाम्) कुल की वृद्धि को (पश्यन्) देखता हुआ (अहम्) मैं (अस्याः) इस तेरे (रूपम्) रूप को (विष्यामि) प्रीति से प्राप्त और इसमें प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूँ वैसे यह तू मेरी वधू (मयि) मुझसे प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को (वेदत्) प्राप्त होवे (जैसे) मैं (मनसा) मन से भी इस तुझ वधू के

साथ (स्तेयम्) चोरी को (उदमुच्यते) छोड़ देता हूँ और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से (नाद्मि) भोग नहीं करता हूँ (स्वयम्) आप (अन्थानः) पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी (वरुणस्य) उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के (पाशान्) बन्धनों को दूर करता रहूँ वैसे (इन्) ही यह वधू भी किया करे, इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि मैं भी इसी प्रकार आपसे वर्त्ता करूँगी।

हे वधू जैसे (अहम्) मैं (अमः) ज्ञानवान, ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करनेवाला (अस्मि) होता हूँ वैसे (सा) सो (त्वम्) तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी (असि) है जैसे (अहम्) मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझको (अमः) ग्रहण करता हूँ वैसे (सा) सो मैंने ग्रहण की हुई (त्वम्) तू मुझको भी ग्रहण करती है (अहम्) मैं सामवेद के तुल्य प्रशंसित (अस्मि) हूँ, हे वधू ! तू (ऋक्) ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है और मैं (द्यौः) वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूँ, वह तू और मैं (तावेव) दोनों ही (विवहावहै) प्रसन्नता पूर्वक विवाह करें (सह) साथ मिल के

(रेतः) वीर्य को (दधावहै) धारण करें (प्रजाम्) उत्तम प्रजा को (प्रजयवावहै) उत्पन्न करें (वहून्) वहुत (पुत्रान्) पुत्रों को (विन्दावहै) प्राप्त होवें (ते) वे पुत्र (जरदष्टयः) जरावस्था के अन्त तक जीवन-युक्त (सन्तु) रहें (संप्रियौ) अच्छे प्रकार एक दूसरे से प्रसन्न (रोचिष्णू) एक दूसरे में रुचियुक्त (सुमनस्यमानौ) अच्छे प्रकार विचार करते हुए (शतम्) सौ (शरदः) शरद्‌ऋतु अर्थात् शत् वर्ष पर्यंत एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि से (पश्येम) देखते रहें (शतं, शरदः) सौ वर्ष पर्यंत आनन्द से (जीवेम) जीते रहें और (शतं शरदः) सौ वर्ष पर्यंत प्रिय वचनों को (शृणुयाम) सुनते रहें।"

पा० गृ० कां १—कं० ६—३

हे वधू ! तेरे अन्तःकरण और आत्मा को मेरे कर्म के अनुकूल (मैं) धारण करता हूँ मेरे चित्त के अनुकूल तेरा चित्त सदा रहे—मेरी वाणी को तू एकाग्र चित्त से सेवन किया कर प्रजा का पालन करने वाला परमात्मा तुझको मेरे लिये नियुक्त करे। इसी प्रकार स्त्री कहे—हे प्रिय वीर स्वामिन्! आपका हृदय आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण कर्म में (मैं) धारण करती हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा

रहे। आप एकाग्र हो के मेरी वाणी का—जो कुछ आप से कहूँ उसका सेवन सदा किया कीजिये, क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आपको मेरे आधीन किया है, वैसे मुझको आपके आधीन किया है, अर्थात् इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्त्ता करें, जिससे सर्वदा आनंदित और कीर्तिमान् पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार अप्रियभाषणादि को छोड़ के परस्पर प्रीतियुक्त होकर रहें।

पा० कां० १—कं० ८—८॥

यह विवाह समय में परस्पर की प्रीति-पूर्वक प्रतिज्ञाओं का रूप है। जिसके अन्तर्गत प्रजा (संतान) का विस्तार, संसार का उपकार अथवा देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण से अपने आपको मुक्त करने का प्रयोजन छिपा हुआ है। जो मनुष्य (स्त्री और पुरुष) की अन्रात्मा को ऊँचा उठाने में सब प्रकार सफल सिद्ध प्रतीत होता है। कितनी गंभीरता और कितना कर्मण्य बनाने का भाव इसके अन्तर्स्थित है। यदि इसका हृदय से पालन किया जाय तो आवश्यकता नहीं है कि पति-पत्नी के बीच विषम समस्या का चित्र चित्रित किया जाय। इन प्रतिज्ञाओं में परस्पर विश्वास प्रेम और आदर के भाव कूट कूट कर भरे

हुए हैं। गृहस्थाश्रम में संयुक्त हुआ प्राणी अपने इन विवाह के अवसर पर प्रकट किये हुए उद्गारों से अवश्यमेव जीवन-पर्यंत प्रभावित रहेगा। प्राचीनकाल की शिक्षा, व्यवहार और व्यवस्था इनको चिरकाल तक स्थापित रखने में सर्वथा समर्थ थी।

विवाह की इसी पद्धति को मनु ने अंगीकार किया है। जिसका थोड़ा बहुत अन्तर कर चार प्रकार-मात्र हो गया है। अन्य को हेय बताया है, जिसका प्रयोजन यह है कि मनुष्य जीवन में वह उत्कृष्ट नहीं, उसका व्यवहार न होना चाहिये।

सचमुच यदि भारत स्त्री-जीवन को सम्मान प्रदान करना चाहता है तो वह इस देश में प्राचीन-वातावरण को उपस्थित करे। उत्तम से उत्तम सन्तान की उत्पत्ति कर उनको नारी-जाति के प्रति श्रद्धा और आदर के भावों में रंग दे। उत्कृष्ट संतान विवाह के प्रयोजन को सार्थक कर देगी। इसमें सफल होकर भारत निश्चय ही पुनः प्राचीनकाल की भाँति हरा भरा लहलहाता दृष्टिगत होगा।

दाम्पत्य-जीवन

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता, भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेवकुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

मनु० ३—६०

"एकता की भावना ही एक ऐसी महान् शक्ति है जो मनुष्य की कार्य शक्ति और उत्पादक-शक्तियों को सौगुना बढ़ा देती है। आगे इस एकता का अनुभव करने से ही मनुष्य पूरी शक्ति से अपनी भावी सफलता के लिये प्रयाण करेगा।"

—प्रिन्स क्रोपाटकिन

मनु का कहना है कि स्त्री और पुरुष परस्पर एक दूसरे को प्रसन्न करते रहने का उपाय जीवन-पर्यन्त करते रहें, उनके विवाह के समय की, की हुई प्रतिज्ञायें कभी भुलाई न जावें। पति से पत्नी और पत्नी से पति कभी जुदा न हों। एक

वर्ष के लिये भी यदि पति बाहर जावे तो पत्नी को अपने साथ अवश्य ले जावे, इसलिये कि बिना पति के पत्नी और बिना पत्नी के पति वैसे ही शोभा नहीं देते, जैसे एक चक्के का रथ नहीं शोभा देता। अतः दोनों का एकत्र होकर रहना और एकत्र होकर ही कार्य करना सुख की सामग्री का संचय करना है।

सचमुच जिस पति-पत्नी के बीच परस्पर प्रेम-युक्त व्यवहार कार्य कर रहा है, वहाँ निश्चय ही सर्वदा शान्ति की स्वर्णमयी मूर्ति का निवास रहता है। शान्ति-मय जीवन, विवेकी और ज्ञान-चक्षुओं से युक्त होता है। उनके प्रत्येक कार्यों में उत्साह और संलग्नता की अभिवृद्धि होती है। वे प्रत्येक कार्यों को सफलता-पूर्वक करके संसार के सम्मुख गौरववान् होते हैं। उनकी कीर्ति चिरस्थायी होकर उनको स्वर्ग की ओर ले जाती है। इसलिये प्रत्येक दम्पति का कर्तव्य है कि वे अपने आपको इस योग्य बनाने का प्रयत्न करें। परन्तु ऐसा न होकर संसार में आज प्रत्येक दम्पतियों के बीच इसके विपरीत कार्य हो रहा है। स्त्रियों पर पुरुषों का अत्याचार बड़ा भयानक रूप धारण किये हुए है। जिसकी संक्षिप्त झलक "स्त्रियों का सम्मान शीर्षक" में दिखाई जा चुकी है। इसमें संदेह नहीं कि कहीं कहीं स्त्रियों

के दोषी होने के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। जिनका उल्लेख संभवतः आगे होगा। परन्तु उन दोषों के प्रधान कारण सर्वथा पुरुष-वर्ग ही हैं। स्त्रियाँ अशिक्षिता और बुद्धिहीन हैं, उनमें विवेक-शक्ति का अभाव है। वे न सोचना जानती हैं, न समझना। अतः इसलिये स्त्रियों को दोषी ठहराना किसी प्रकार भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

भारत का पुरुष-समाज इतना स्वेच्छाचारी हो चला है कि उसका अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण बिलकुल नहीं रहा है, वह अपनी मर्यादा और शिष्ट एवं सभ्य-जीवन की किंचित्-मात्र भी परवाह नहीं करता। इनका स्वभाव और दैनिक व्यवहार अथवा आचरण इतना गिरा हुआ है कि जिस ओर दृष्टि डालो ये महा-पतित जीवन व्यतीत करते हुए दिखाई देते हैं। इन्हीं की इस उच्छृङ्खलता का यह परिणाम है—जो यहां का दाम्पत्य-जीवन सुख विहीन होकर अनेकों कष्टों के मध्य घिरा हुआ है। भारत ही क्यों—योरप तो इस युग में इससे भी गया गुजरा है। वहाँ के दम्पति तो अधिकार-वाद की भित्ति पर नित्य-प्रति पशुत्व की अभिवृद्धि करते हुए दृष्टिगत हो रहे हैं। भारत भी उसी प्रवाह में बह रहा है। सर्वदा से प्रसारित कर्तव्य-वाद भारतीयों

की थोड़ी सी भूल के कारण यहाँ से विदा लेना चाहता है। इनकी आश्चर्य-चकित मनोवृत्ति पर संसार रुष्ट है और रुष्ट है वह समाज जो पश्चिमीय सभ्यता का पुजारी हो रहा है। जघन्य और पाप-पूर्ण अभिलाषाओं में ओत-प्रोत भारतीय कर्तव्यवाद का अपने हाथों सर्वनाश कर रहे हैं। इनकी दिन-चर्या में पराई पत्नी का संग्रहण इनके कर्तव्यवाद को कठिन कुठार से ध्वंश कर रहा है। उस पर आश्चर्य तो तब है, जब कि यह अपने दुष्कर्मों का निरन्तर प्रसार करते रहने पर भी निज पत्नी को शुद्ध और निर्मल चरित्र की बनाये रखने का अनोखा स्वप्न देखते हैं।

पुरुष-समाज यदि पत्नी को शुद्ध और निर्मल चरित्र की देखना चाहता है और देखना चाहता है कि प्रत्येक दम्पति-गृह सुखी जीवन व्यतीत करते दिखाई दें—तो वे अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण प्रारंभ करें और अपने शास्त्रीय निर्धारित कर्तव्यों की ओर ध्यान दें। निश्चय ही वे दाम्पत्य-जीवन में सुख की सामग्री का विकास होते देखेंगे। उनको दिखाई देगा कि उनकी पत्नी उनसे प्रेम करती है वह निर्मल चरित्र की स्वस्थ्य और सुन्दर बचन बोलने वाली है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि हमारे देश के धर्म शास्त्रियों की व्यवस्था का यह परिणाम है, जिन्होंने यह कह कर कि—"पति अनेक पत्नियाँ कर सकता है, परन्तु पत्नी को सभी अवस्थाओं में पति से इतर पुरुष का मुख न देखना चाहिये। पुरुषों को मनमाना अन्याय करने के लिये प्रोत्साहित कर दिया है।" इसमें सन्देह नहीं कि इन शब्दों से पुरुषों को प्रोत्साहन मिलेगा और मिलता रहा है। परन्तु यह शब्द अपनी वास्तविकता नहीं रखते, यह स्वार्थी और इन्द्रिय लोलुप विचार हैं। इन्हीं कारणों से भारत में ही नहीं, वरन् संपूर्ण विश्व में पुरुषों के पैशाचिक-कृत्य अनन्त रूप से स्त्रियों के साथ प्रकट होते रहे हैं। जिन्हें हम धर्म-शास्त्रियों द्वारा प्रसारित स्वीकार करने को तैयार नहीं। पति एक पत्नी के रहते हुए अनेक पत्नी करता चला जाय और पत्नी कभी भी किसी भी अवस्था में दूसरा पति नहीं धारण कर सकती—हम इसे धर्म-शास्त्रियों का प्रयोजन नहीं कह सकते। यह विचार एकांगी और अधर्म-पूर्ण है। अपने अनुपयुक्त पति का पत्नी परित्याग कर सकती है, जिसे हम तलाक़ समस्या में विस्तार पूर्वक उल्लिखित करेंगे।

आज-कल का दाम्पत्य-जीवन कितना घृणित है, इसकी

कल्पना करने मात्र से कलेजा काँप उठता है। रूढ़िवादियों के गृह की ओर दृष्टिपात करने से पता लगता है कि उनके गृह में स्त्री का जीवन दासता की भयंकर बेड़ी से जकड़ा हुआ है। पतियों का उन पर शासन इस भयंकर रूप में है कि जिसके संबंध में लिखा जा चुका है। इस तरह स्त्री जीवन की बड़ी ही दुर्दशा है। मैंने अपनी आँखों देखा है, मेरे मकान के समीप की ही घटना है। एक महाशय की स्त्री ने कहीं खिड़की से झाँक लिया, बस, उसका झाँकना बड़ा भारी अपराध हो गया। भयंकर कोड़ों की मार से जर्जरित कोमल और सुन्दर बदन चीत्कार कर उठा। यह है भारतीयों के पवित्र दाम्पत्य-प्रेम का नमूना। जिनके जघन्य-कृत्य संसार में प्रकट होकर पाशविक-अत्याचार का परिचय दे रहे हैं। अस्तु—

जब हम इस प्रकार की विषमता के कारण पर विचार करते हैं तब हमारा ध्यान उस कर्तव्य-वाद की ओर आकर्षित होता है और हृदय कह उठता है कि पति को कोई अधिकार नहीं कि वह पत्नी के संग ऐसे दुर्दमनीय व्यवहार प्रकट करे। पुरुष की यह सर्वथा अनुचित अभिलाषा है जो अपने तो पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करता है और पत्नी को दरबे के अन्दर

बन्द करके रखना चाहता है। विवाह के समय की गई प्रतिज्ञाओं का यह रूप नहीं। यह तो की गई प्रतिज्ञाओं का दुरुपयोग है।

हृदय-मनोभाव और आचरणों का साम्य ही दाम्पत्य-प्रेम की मूल भित्ति है। दाम्पत्य-प्रेम उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों में किसी प्रकार का छल-कपट या अन्तर नहीं होता। जब दोनों के हृदय विशुद्ध और पवित्र होते हैं, जब दोनों एक दूसरे के प्रति वफ़ादार बने रहते हैं। मार पीटकर दाम्पत्य-प्रेम को स्थापित कराना असंभव है। चहार-दीवारी के अन्दर बन्द करके रखने से दाम्पत्य-प्रेम पुष्ट-रूप नहीं धारण कर सकता। जहाँ दोनों अपने अधिकारों और अपने प्रेम का दुरुपयोग नहीं करते, वहीं दाम्पत्य-प्रेम की उज्वल छटा छिटकती है। जहाँ विभिन्नता, अन्तर या छल कपट नहीं होता। जहाँ एक हृदय से दूसरे का हृदय मिला हुआ होता है। किन्तु हम देखते हैं कि पुरुष तो एक भी नियम की पाबन्दी नहीं पसंद करते, परन्तु स्त्रियों के लिये कठिन से कठिन नियमों की शृङ्खला का आविर्भाव किये हुए हैं, वे उनको उसी में जकड़ कर रखना चाहते हैं और चाहते हैं कि स्त्रियाँ

उनको उसी दृष्टि से देखें, जिस दृष्टि से सीता और सावित्री अपने पतियों को देखती थीं। कैसे आश्चर्य की बात है!

निरंकुशता चाहे स्त्री में हो, अथवा पुरुषों में—दोनों के लिये समान घातक है। हमारी यह दृढ़-धारणा है कि हमारे देश में दाम्पत्य-प्रेम का जो अभाव पाया जाता है वह पुरुषों की ही निरंकुशता और उन्हीं की, स्वेच्छाचारिता का ज्वलन्त उदाहरण है जो अपनी पत्नी के प्रति ऐसे कलुषित भावों की सृष्टि होती है। इस निरंकुश पुरुष जाति ने अब तक लाखों घर चौपट कर दिये हैं। लाखों स्त्रियों को निराधार बना दिया है। लाखों ललनाएँ इनकी इसी कुटिल इच्छाओं के परिणाम स्वरूप हृदय की दृढ़ता के अभाव में अथवा आत्म-बल-हीन होने के कारण वार-वनिता का वेश धारण कर बाजारों में वेश्या-वृत्ति करती हुई दृष्टिगत् हो रही हैं। क्या यह आवश्यक है कि दाम्पत्य-जीवन को प्रेम-मय बनाने के लिये, गृहस्थी को सुचारु रूप से चलाने के लिये और जीवन-यात्रा को शान्ति और आनन्द के साथ पूर्ण करने के लिये स्त्रियों की स्वतंत्रता का विरोध किया जाय या अपने पैशाचिक अत्याचारों द्वारा इनकी स्वतंत्रता को इस प्रकार कुचला जाय। कदापि नहीं, पुरुष

जाति को अपने अधिकारों का इस प्रकार दुरुपयोग न करना चाहिये। इससे वह अपने आदर्श को उपस्थित नहीं कर सकता।

वर्तमान-स्थित दाम्पत्य-जीवन में कुछ यही शिकायत नहीं कि पति-वर्ग स्त्रियों को अपनी कलुषित-भावना की प्रेरणा में स्वतंत्र-जीवन के उपभोग से वंचित ही रखना चाहते हों। अन्य भी वहुतेरी शिकायतें हैं, जिनका वर्णन आगे किया जायगा। इन भारतीय अंधे माता-पिताओं की काली करतूत ने तथा भारत के वीच कृत्रिम-जाति-बंधन ने इसको विषम बना रक्खा है।

समाज में वहुतेरे ऐसे माता-पिता हैं, जो बालक के लक्षणों का बालिका के लक्षणों से मेल नहीं करते, वे मेल करते हैं अपना और अपने सम्बन्धी का, अर्थात् यदि वे धनाढ्य हैं तो बालिका के पिता का धनाढ्य होना आवश्यक ही है। बालिका का पिता भी ऐसा ही सम्बन्धी खोजता है। ऐसी प्रवृत्ति का परिणाम बड़ा भयंकर देखने में आता है। नित्य-प्रति अनमेल विवाह होकर समाज को एक गर्त्त में गिरा रहा है।

धन के मद में मतवाले माता-पिता इस तरह भयंकर रीति से स्त्री और पुरुष अर्थात् बालक और बालिकाओं को इस

पवित्र-बंधन के नाम पर कठिन बेड़ी में बाँधने का अतुल-प्रयास करते हुए नित्य ही दिखाई देते हैं। जहाँ के स्थित दम्पतियों में विवाह का कोई महत्व नहीं होता। उत्तर-दायित्व को समझने के अभाव से वे बालक-बालिकायें इस सम्बन्ध को कुत्सित-कृत्य कह कर पुकार रहे हैं।

प्रवृत्ति, स्वास्थ्य, योग्यता और वर्ण का मेल न करने से बालक-बालिकाओं का जीवन बड़े ही संकट में है। बालक गौरांग, स्वस्थ्य और सरल मनोवृत्ति का है, परन्तु बालिका गौरांगना, स्वस्थ्य और सरल मनोवृत्ति की नहीं है, वह है, पतली-दुबली, काली-कलूटी और तीक्ष्ण वचन बोलने वाली। कहीं बालिका गौरांगना, स्वस्थ्य और सरल मनोवृत्ति की है तो बालक, पतला-दुबला, काला-कलूटा और कठोर वचन बोलने वाला है।

प्रायः यह भी दृश्य देखने में आता है कि सम्बन्धी का सम्बन्धी से बड़ा अच्छा मेल है, बालक जिस योग्यता को प्राप्त है उसी योग्यता को बालिका भी प्राप्त है, दोनों की मनोवृत्ति सरल और प्रशंसनीय है, दोनों गौरांग-पूर्ण हैं, परन्तु स्वास्थ्य में अन्तर है एक खूब स्वस्थ्य और दूसरा दुबला-पतला है।

फल यह होता है कि स्वस्थ्य बालक के समीप बालिका और स्वस्थ्य बालिका के समीप बालक वासना की वेदी पर बलि हो जाते हैं।

कहीं यदि यह सभी समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं तो भारत में प्रचलित कृत्रिम-जाति-बंधन इसको पूर्ण होने देने में सहायक नहीं है, वह बाधा डालती है, परिणाम-स्वरूप वही मनमाने ढङ्ग से विवाह सम्बन्ध होकर दाम्पत्य-जीवन को दुखदाई बनाये रहते हैं।

किसी पुरुष का हृदय अनुभव करता है कि यदि हम इस सुंदर और सुशील स्त्री को अपनी सहधर्मिणी बना पाते तो जीवन में सभी हशरतों को पूर्ण करने में सफल होते, किन्तु कृत्रिम-जाति-बंधन इस मार्ग में भयंकर बाधक है। इस प्रकार के सम्बन्ध को समाज हेय दृष्टि से देखता है, यह कैसी समाज की मनोवृत्ति है। स्त्री सोचती है, यदि हम इस पुरुष को अपना पति बना पाती तो हमारा जीवन सुफल हो जाता, परन्तु उसका सोचना, समझना और विचार करना व्यर्थ है, क्योंकि कृत्रिम-जाति-बंधन भयानक रोड़ा अटकाये हुए है। वह अपने इन विचारों को कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सकती।

यह है वर्तमान भारतीय दाम्पत्य-जीवन का उपलक्षण, जो विचार करने से घृणित और पाशविक प्रतीत होता है। यद्यपि भारतीय-समाज को शीघ्र ही अपने इस दृष्टि-कोण को बदल देना होगा। शीघ्र ही उसको अपनी इस व्यवस्था में परिवर्तन करना होगा। इसलिये कि शास्त्रकार उसके इन विचारों से सहमत नहीं। वे बालक-बालिका के समान लक्षणों के कायल हैं, प्रचलित कृत्रिम-जाति-बंधन के नहीं। समय आ गया है और नवयुवक इस पोगापंथी विचार का हर स्थानों पर मजाक उड़ाते दिखाई देंगे और दिखाई देंगे इनकी मट्टी पलीत करते हुये। नवयुवतियाँ भी इस सम्बन्ध में आगे बढ़ रही हैं उनके हृदय में भी इस विचार-धारा का जोरों से संचार हो रहा है। जिसके प्रसारित होते ही भारत का दाम्पत्य-जीवन सुख की धवल-छटा से ओत-प्रोत दिखाई देगा।

मनु कहते हैं:—

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते॥

मनु० ३—६१

गृहस्थ को प्रसन्नता का आश्रम बनाने के लिये यह आवश्यक है कि पति और पत्नी दोनों एक दूसरे से सन्तुष्ट रहें अर्थात् यदि स्त्री, पुरुष पर रुचि नहीं रखती या पुरुष, स्त्री पर रुचि नहीं रखता तो सन्तान की उत्पत्ति असंभव है। दोनों का जीवन बड़ा संकट-ग्रस्त रहता है। दोनों ही एक दूसरे के विरोधी होकर समाज को दूषित करने में कसर नहीं उठा रखते। इसलिये पति-पत्नी दोनों की सुरुचि समान जहाँ दृष्टिगत् हो वहीं पवित्र विवाह संबंध करना चाहिये जिससे भारत का दाम्पत्य-जीवन सुख-पूर्ण हो। अब समान लक्षणों से युक्त दम्पति का कर्तव्य क्या है? इसका वर्णन किया जाता है:—

परिवार की वृद्धि-अवृद्धि दम्पतियों के सुखी रहने और दुःखी रहने पर ही निर्भर है, इसलिये ऐश्वर्य की इच्छा रखने वाले दम्पतियों का कर्तव्य है कि वे परस्पर प्रसन्न रह कर कार्य करें। गृहस्थ होकर पराये घर में भोजन करने की इच्छा करना मूर्खों का काम है। प्रयोजन यह कि पति से पत्नी और पत्नी से पति कभी अप्रसन्न होकर न रहें। पराये घर में भोजन करने का प्रयोजन (पति से पत्नी और पत्नी से पति के परस्पर

काहिलता के कारण अथवा अन्य किसी कारण से अप्रसन्न होकर) इधर उधर रह कर दिन काटने का है। यही बात निम्न श्लोक में मनु कहते हैं:—

उपास्ते ये गृहस्थाः परपाकम बुद्धयः ।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम् ॥

मनु० ३—१०४

गृहस्थ को दानी, उदार, सच्चरित्र और दीन-हीन ग़रीबों की रक्षा करने वाला होना चाहिये, परिश्रम करके धन का उपार्जन करे और उस धन से अपने परिवार का पोषण करते हुये एकता की भावना में ओत-प्रोत हो सुख-मय जीवन बितावे। दूसरों का मुंह ताकना या दूसरों पर अपने जीवन का भार रखने वालों की ऊपर के श्लोक में निन्दा की गई है।

आसना वसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम् ।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥

मनु ३—१०७

प्राय: देखा जाता है, प्रत्येक गृह में एक न एक मिहमान (अतिथि) बने रहते हैं, जो जैसा होता है उनका वैसा यथा

योग्य सत्कार करना गृहस्थ का कर्तव्य है। इसी बात को मनु ऊपर के श्लोक में बतलाते है कि:—जब गृहस्थ के समीप अतिथि आवे तो उसका आसन, निवास, शय्या, समीप बैठना और गमन; उत्तम का उत्तम, मध्यम का मध्यम और निकृष्ट का निकृष्ट सत्कार करना चाहिये।

आज-कल हमारे माता-पिताओं में अंध-विश्वास की इतनी जबर्दस्त गंध भरी है कि वे आँख रहते हुए भी आँख के अँधे हैं। भले और उपयोगी कार्य में उनसे एक पैसा भी नहीं व्यय किया जाता, परन्तु संडे-मुसंडे ठगों को अथवा पाखंडी साधु ब्राह्मणों और फ़कीरों को वह न मालूम क्या क्या तक उठा कर दे देते हैं, जिनसे न देश का कल्याण है न समाज का, न पशु पक्षी का, वे भंग छानकर मस्त लट्ठ लिये इधर उधर पराई बहू बेटियों को कुदृष्टि से देखते फिरते हैं। शराब पीना, कोकीन खाना, वेश्या के यहाँ जाकर रंगरलियाँ मचाना यही उनका दैनिक-जीवन है। ऐसे ही ठग धूर्त-पाखंडी साधु-ब्राह्मण इन साधारण जन-समुदाय के जगद्गुरु है। जो अपने चरित्र को सुधार सकने में तो असमर्थ ही हैं। भला वे जगत् के गुरु होने का दावा किस बल पर कर सकते हैं। मनु ऐसे लोगों के लिये कहते हैं:—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडाल व्रतिकान् शठान् ।
हेतुकान् वक वृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

मनु० ४—१९२

अर्थात् पाखंडी, उल्टे कर्म करनेवाले, वैडाल-वृत्ति वाले (हिंसक), शठ, कुतर्की और वकवृत्ति (वगुला भगत) वाले का वाणी-मात्र से भी सत्कार नहीं करना चाहिये।

जिनकी जीविका हिंसापरक कर्मों पर निर्भर हो या जो अधर्म और अन्याय अर्थात् ठग कर या धूर्तता से अथवा बुरे कर्म करके धन का उपार्जन करते हैं उनका अन्न किसी को न ग्रहण करना चाहिये, परन्तु ऐसे ही लोग आज हिन्दू समाज के प्रधान प्रमुख व्यक्ति और देवता हैं। उनका भोजन तो दूर की वात है चरण की धूलि स्पर्श करके मानों हम मुक्त हो जाते हैं। भोजन उसी के यहाँ करना चाहिये जो शुद्ध सफ़ाई से रहता हो, ईमानदारी से धन उपार्जन करता हो।

प्रत्येक दम्पति को चाहिये कि शास्त्र-विरुद्ध लोकाचार का व्यवहार न करें, किन्तु जिसमें किसी प्रकार की कुटिलता और शठता न हो ऐसी शुद्ध-धर्मोक्त जीविका उपलब्ध करें। सत्य,

धर्म, आर्य (श्रेष्ठ) पुरुषों के व्यवहार और पवित्रता ही में सदा दम्पतियों को प्रवृत्त रहना चाहिये और बाहु तथा वाणी आदि की कुचेष्टा छोड़ कर धर्म से शिष्यों (अपने बालक-बालिकाओं और दूसरों के बालक बालिकाओं) को उत्तम शिक्षा दिया करें।

इस प्रकार मनुस्मृति (धर्म-शास्त्र) में गृहस्थ के लिये जितने उपदेश हैं। उनका सबका सारांश निम्न प्रकार है:—

स्त्री के कर्तव्य—घर की समस्त वस्तुओं को साफ सुथरा रखना, खर्च में क़िफायत करना, पतिव्रत-धर्म का पालन करते हुए पति को प्रसन्न रखना, सन्तानोत्पादन तथा इनका पालन-पोषण। समस्त गृहकार्य अपने आधीन समझ कर उन्हें सुचारु रूप से चलाना, बच्चों को उत्तम-उत्तम शिक्षा देना। जिसे विस्तार पूर्वक इस प्रकार समझना चाहिये:—

घर कैसा हो, घर की स्वच्छता किस प्रकार रखनी चाहिये, इससे किस प्रकार के लाभ की आशा है, घर में वायु का प्रबन्ध किस प्रकार से करना चाहिये, सपूर्ण परिवार को इससे क्या लाभ होता है? शौच का स्थान कहाँ बनाया जाय? इसकी सफाई का प्रबंध किस प्रकार करना चाहिये? शयनागार

कैसा हो ? भंडार-गृह की देख-भाल, रसोई घर की देख-भाल, घर में फूल फुलवाड़ी की व्यवस्था, आमदनी-ख़र्च का हिसाब रखना, कपड़े सिलाना, उनको धुलाना और उनको उचित रीति से रखना तथा प्रयोग में लाना, कपड़े रंगना, फ़सल पर बाजार में जाकर सामान ख़रीदना, त्योहार और उत्सवों में किस प्रकार व्यय करना चाहिये, इसका ज्ञान रखना तथा देश के हित के लिये किस प्रकार व्यय करना चाहिये, उसमें किस रीति से भाग लेना चाहिये, नौकर चाकर की देख-भाल करना, गाय-भैंस की देख-भाल तथा उनके भोजन का प्रबंध करना, सौर की व्यवस्था, बच्चे के पालन की योग्यता, रोगी की परिचर्या किसी रीति से करनी चाहिये, विषैले जन्तुओं के विष का परिष्कार किस प्रकार करना चाहिये, गर्भधारण, गर्भ की रक्षा और उसके उपाय, प्रसव-गृह की व्यवस्था, प्रसूता के रोग और उसको दूर करने के उपाय, शिशु-पालन, शिशु-चिकित्सा, पुस्तकों का पढ़ना, देश की परिस्थिति का ज्ञान रखना (जो अख़बारों द्वारा ही हो सकता है), अवकाश मिलने पर देश के कार्यों में भाग लेना, सभाओं में जाना और महिलाओं की शिक्षा-दीक्षा आदि की उचित व्यवस्था के लिये अपनी सलाह से सहायता देना। बच्चों की

बचपन की आदतों का ज्ञान रखकर उनको अच्छे मार्ग पर ले चलना आदि विभिन्न बातों का ज्ञान और उसको व्यवहार में अथवा उपयोग में किस प्रकार लाया जाय, इन सभी बातों से स्त्रियों को विज्ञ होना चाहिये।

पुरुषों के कर्तव्य—पत्नी को, स्त्री-व्रत धर्म का पालन करते हुए प्रसन्न रखना, क्योंकि उनकी प्रसन्नता से घर में प्रसन्नता रहती है। स्त्रियों को भरण-पोषण आभूषणादि से सन्तुष्ट रखना, उन्हें न केवल घर के अन्दर संतुष्ट रखना किन्तु विवाहादि शुभ कार्यों तथा अन्य अच्छे कार्यों उत्सवादि में उनकी सत्कार-वृद्धि करना अर्थात् बाहर भीतर सर्वत्र आदर सम्मान से रखना।

पति-पत्नी के सम्मिलित कर्तव्य—दोनों परस्पर सन्तुष्ट रहें—स्त्री को लक्ष्मी, गृह का प्रकाश और भाग्योदय का कारण समझना चाहिये। परिवार की वृद्धि-अवृद्धि स्त्रियों के सुखी-दुखी रहने पर निर्भर होती है तथा स्त्रियों के दुखी रहने से कुल का नाश हो जाता है। गृहस्थ लोक और परलोक दोनों की उन्नति का कारण है, परन्तु जो दुर्बलेन्द्रिय हैं उन्हें इस आश्रम में नहीं आना चाहिये। गृहस्थ पुरुष और स्त्रियों को अपने भोजनादि के लिये अन्य गृहस्थों का मुँह नहीं ताकना चाहिये। जो हिंसा

करके धन कमाते हों अथवा धर्म और न्याय के विपरीत आचरण करके पैसा पैदा करते हों, ऐसे लोगों का अन्न नहीं खाना चाहिये। इन्द्रियों को संयम में रखते हुये शिष्यों को उत्तम शिक्षा देनी चाहिये। कमाये हुये धन की पवित्रता, जल और मिट्टी आदि से की हुई पवित्रता से श्रेष्ठ है। अपने को पापों और बुराइयों से बचाने के लिये क्षमा, दान, जप (शुद्ध मन) और तप (परिश्रम) का आश्रय लेना चाहिये। शरीर को जल से, मन को सत्य से, सूक्ष्म शरीर-युक्त आत्मा को विद्या और तप से, बुद्धि को ज्ञान से शुद्ध करना चाहिये। सन्देह होने पर कर्तव्य का निर्णय दस या कम से कम तीन विद्वानों की परिषद् से कराके उसी के अनुकूल वर्तना चाहिये। यह है मनु का दम्पतियों को आदेश जिसकी शिष्टता, सभ्यता और उत्कृष्टता के कायल अन्य धर्मावलम्बी भी हैं।

सन् १९११ ई० में जब स्वर्गीय भूपेन्द्रनाथ ने वायसराय की कौंसिल में एक बिल १८७२ ई० के स्पेशल-मैरिज-ऐक्ट के संशोधनार्थ पेश किया था, तो तत्कालीन ला मेम्बर स्वर्गीय सैयद अली इमाम ने अपनी वक्तृता में कहा था:—

"I find that the law of marriage among

the Hindus is for more based on religious obligations, rites and ceremonies than it is amongst the Mohammedans. Amongst the Hindus, it is a sacrament of ordinary charactor but it is of such a deep charactor that even after death the sanctity of the nuptial bond and the sacredness of the knot remains."

सैयद अली इमाम ने स्पष्ट शब्दों में इस बात को स्वीकार किया है कि विवाह की वैदिक-पद्धति, मुसलमानी पद्धति की अपेक्षा, अधिक धार्मिक सिद्धांतों पर निर्भर है, और उसका पवित्रता-पूर्ण सम्बन्ध, मृत्यु के बाद भी बना रहता है।

मनु कहते हैं, प्रत्येक दम्पति को नित्य-प्रति पंचमहायज्ञ करना चाहिये। इससे प्रत्येक दम्पति का जीवन उत्कृष्ट और आनंदकारी बनेगा। सुख की वृद्धि होगी। सदाचार का विकास होकर दम्पतियों को स्वर्ग की ओर ले जायगा। वे लिखते हैं:—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृ यज्ञश्च तर्पणम्।
होमोदैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्॥

अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना, ज्ञान लेना और ज्ञान देना, यह ब्रह्मयज्ञ है। बूढ़े माता-पिता, साधु-संन्यासी (कर्मण्य) महानुभावों की सेवा करना पितृयज्ञ है। होम (अखंड परिश्रम अथवा वैज्ञानिक अन्वेषण) करना देव-यज्ञ कहलाता है। पशुओं को भोजन देने का नाम भूत-यज्ञ है। अतिथि सत्कार को नृयज्ञ कहते हैं। जिनकी वास्तविकता को रूढ़िवादियों ने चौपट कर दिया है। जिससे दम्पतियों में पंचमहायज्ञ का अभाव होकर भारत का दाम्पत्य-जीवन एक गहरे गर्त्त में गिरा हुआ है। विशेषतः स्त्रियों में शिक्षा के अभाव ने दाम्पत्य-जीवन में बड़ी विषम समस्या उत्पन्न कर रक्खी है। प्रायः देखने में आता है, स्त्रियाँ अपने पतियों से मीठा वचन बोलना जानती ही नहीं। कहीं-कहीं पतियों की भी उच्छृङ्खलता बड़े जबर्दस्त रूप में प्रकट हो पड़ती है। जिससे पति-पत्नी के बीच नित्य-प्रति गृह में भयानक संग्राम मचा रहता है। बूढ़े माता-पिताओं से कैसा व्यहार करना चाहिये? इनका उनको तनिक भी ज्ञान नहीं। अपने पति से कैसा व्यवहार करना चाहिये, उसको अपने प्रयत्नों में कैसे प्रसन्न रक्खा जाय, उसके हृदय पर कैसे अधिकार जमाया जाय? यह उन्हें बिलकुल नहीं आता। अध्ययन अध्यापन से शून्य होने के

कारण वे बच्चों को उचित अनुचित का ज्ञान करा सकने में सर्वथा असमर्थ हैं। अतिथि-सत्कार कैसे किया जाना चाहिये इसको तो परदे ने ही भक्षण कर डाला है। कुछ है भी तो केवल ढोंगी पाखंडी साधुओं के लिये ही पर्याप्त है। इससे आगे और गृहस्थी के कार्यों में वे बिलकुल असफल सिद्ध हैं। इस तरह भारतीय दाम्पत्य-जीवन इन बूढ़े अंधे-पाखंडी माता-पिताओं के पाप-रूपी-कृत्य के परिणाम को सिसक-सिसक कर भोग कर रहा है। पश्चिमीय सभ्यता के हिमायतियों को इसीलिये भारत के दाम्पत्य-जीवन के प्रति कृतघ्नता भरी दृष्टियों से देखने का अवसर मिल रहा है।

दण्ड-विधान

दंडः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षितः ।
दंडः सुप्तेषु जागर्ति दंडं धर्मं विदुर्बुधाः ॥

मनु० ७—१८

"पवित्रता जीवन की अमूल्य सम्पत्ति है, इस पर जीवन की सफलता निर्भर है इसकी मनुष्य को प्राण-पण से रक्षा करनी चाहिये। प्राण के बिना शरीर की जो कीमत है वही पवित्रता के बिना जीवन की है।

—महात्मा सुकरात

हमारा ही देश नहीं, संपूर्ण विश्व न्याय का आकांक्षी है। इसलिये कि मनुष्य-जीवन में न्याय बहुत आवश्यक पदार्थ है। न्याय-युक्त-जीवन श्रेष्ठ और सभ्य है। श्रेष्ठता का संसार आदर करता है। किन्तु यह श्रेष्ठता बड़ा कठिन पदार्थ है। यदि इसको

आसानी से हर एक लोग धारण करलें तो बड़ी ही उत्तम बात हो। परन्तु ऐसा न होकर प्रायः देखा जाता है, बच्चे के समीप माता-पिता को, नौकर के समीप मालिक को, राष्ट्र के समीप राष्ट्र-पति को और संसार के समीप प्रकृति को, उस वस्तु को धारण करना पड़ता है, जिसको पथ-प्रदर्शन कराना कहते हैं। पथ-प्रदर्शन कराना ही ताड़ना है। हमारे शास्त्रों ने इस ताड़ना को दण्ड के नाम से पुकारा है। इस दण्ड का उपयोग आवश्यकता पड़ने पर अवश्य ही करना चाहिये, क्योंकि भूले को मार्ग बताना मनुष्य का कर्तव्य है।

यह सभी जानते हैं कि संसार एक कर्म-क्षेत्र है। कर्म करके मनुष्य ऊँचा उठता है और कर्म करके ही गिर जाता है। कर्म ही को करके मनुष्य फल-स्वरूप सुख और दुःख दोनों उपलब्ध किया करता है। इसलिये जिन कर्मों के करने से भविष्य में हानि की आशंका है उन कर्मों को करने के लिये हमारे भारतीय ऋषियों ने मना किया है। उनका कहना है वह अकर्म है। उन्हें न करना ही उपयोगी है। अपने उपदेश और पांडित्य का प्रभाव इस तरह भारतीय-आत्माओं पर ऋषियों ने ऐसे विशद् रूप में रक्खा है कि स्वभावतः ही आत्माएँ उनसे प्रत्यक्ष रूप में घृणा

कर उठती हैं। परन्तु, चूँकि उनसे भौतिक सुख की विशेष पूर्ति होती है, आत्मा एक बड़े सुख का मिथ्या अनुभव करता है, इसलिये छिपकर, लुककर अथवा आँख बचाकर मनुष्य उन कृत्यों को किया ही करता है, जिनका जोरदार शब्दों में निषेध है।

भौतिक-सुख प्राप्त करने के उपरान्त यद्यपि उन कर्मों के परिणाम स्वरूप अप्रत्यक्ष रूप से बड़ा विशद् दुःख प्राप्त होता है। कष्ट भोगते २ यहाँ तक कि प्राणान्त हो जाता है, परन्तु मनुष्य फिर भी उन कर्मों को लुक छिपकर करता ही है। इसलिये कि उसे भौतिक-सुख में अधिक आनन्द मिलता है। भारतीय ऋषियों ने इसे प्रमाद कहकर पुकारा है। जिससे मनुष्य को अपने आप बचाना चाहिये। यह मनुष्य-जीवन के लिये एक बहुत बड़ी बुरी वस्तु है। संसार में प्रमाद से बढ़कर दूसरी वस्तु नहीं उपलब्ध होती। जिस मनुष्य को प्रमाद लग गया मानों निश्चय ही उसका जीवन व्यर्थ है। वह भूल जाया करता है कि कौन बुरा कर्म है और कौन अच्छा। कृष्ण ने गीता अ० ४—१६ में लिखा है:—

किं कर्म किम कर्मेति कवयोऽप्यत्रमोहिताः।

अर्थात् विद्वान् मनुष्य भी भूल जाता है कि कौन अच्छा

कर्म है, और कौन बुरा। परन्तु दण्ड, ताड़ना या पथ-प्रदर्शन बतला देता है और शीघ्र ही उस मार्ग पर ला देता है, जिस पर उसे चलना चाहिये। यही कारण है कि दण्ड का निर्माण हुआ है।

यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप में प्रकृति प्रत्येक मनुष्य को उसके प्रमाद में संलग्न होते ही उसे दण्ड देती है, परन्तु हर मनुष्य उसका अनुभव नहीं करता। अपने भौतिक सुख के सामने वह सर्वदा उसकी ताड़ना को ठुकराया करता है। उसकी उपेक्षा किया करता है। धीरे-धीरे प्रकृति से ताड़ित अथवा दंडित मनुष्य अपनी अज्ञानता अथवा अहमन्यता के कारण अपने अमूल्य जीवन का नाश कर देता है। अतः भारतीय ऋषियों ने उसके उपकारार्थ अथवा उसके जीवन को कुशलता-पूर्वक बनाये रखने के लिये और राष्ट्र की भलाई की आकांक्षा में प्रेरित होकर राष्ट्रपति को दण्ड का अधिकार सौंपा है। जिसका, आवश्यकता पड़ने पर उपयोग करते रहना राष्ट्रपति का धर्म है, कर्तव्य है, तथा उसका ध्येय है। जिससे प्रकृति और प्रमाद दोनों से मनुष्य की रक्षा होती है। आदर्श और मर्यादा का विस्तार होकर मनुष्यों को ऊँचा उठाने के साथ साथ राष्ट्र भी ऊँचा

उठता है। इस तरह भारतीय ऋषियों ने प्रकृति का परीक्षण करके दण्ड का निर्माण किया जो मनुष्य-जीवन की भलाई का हेतु है।

राजा द्वारा इस दण्ड का उपयोग मनुस्मृति में स्त्री और पुरुष दोनों के लिये समान रूप से है। पुरुष और स्त्री राजा के समीप अपराध करने पर एक ही दण्ड के पात्र हैं। पक्षपात की बू तक भी नहीं है। फिर भी हमारे वर्तमान कुछ भारतीय और कुछ देवियाँ मनुस्मृति को पुरुषों का पक्ष-समर्थन करने वाली कह कर पुकारती हैं। पता नहीं, उनकी इस कल्पना का आधार क्या है?

मनु को ऐसे भाव और विचार वाला समझने वाले सुधार-वादी तथा वे देवियाँ देखें कि उनके भाव कितने उच्च और शिष्ट हैं तथा स्त्रियों के प्रति वे अपना स्थान किस प्रकार का रखते हैं। वे स्त्रियों के रक्षार्थ राजा को कर्त्तव्य परायण बनाने के लिये आदेश देते हैं कि:—

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥

मनु० ७—२१३

राजा को चाहिये कि विपत्ति से बचाने के लिये धन की रक्षा करे और धन का त्याग करके उसे स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिये तथा स्त्री और धन दोनों से अपने को निरन्तर रक्षित रक्खे। प्रयोजन यह कि धन और स्त्री में निर्लिप्त न होकर अपना आचरण या अपने राज्य में बसी हुई प्रजाओं में से पुरुष वर्ग का आचरण न बिगड़ने दे। क्योंकि पुरुषों के आचरण के बिगड़ जाने से सती स्त्रियों को महान् कष्ट पहुँचता है। दुराचार में संलग्न पुरुष व्यभिचार और बलात्कार जैसे कृत्य को अपना लेता है।

संसार में यह प्रायः देखने में आता है कि जिनके पास धन है वे अपने धन के मद में उन्मत्त होकर धन का दुरुपयोग करने लगते हैं। अतः मनु ने आदेश किया है कि वह (राजा) धन के द्वारा स्त्रियों की रक्षा करे। प्रयोजन यह कि दुराचारियों को दंड देते हुये (जिसका जिक्र आगे किया जायगा) स्त्रियों की समुचित शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध करे। उनको साहस वाली और योग्य बनावे। उनके योग्य बनाने के साधन-स्वरूप पाठशाला आदि विभिन्न संस्थाओं का निर्माण करे।

इस तरह राष्ट्र की संपूर्ण बालक-बालिकाओं की रक्षा

करना राजा का परम कर्तव्य है। जो निम्न श्लोक से और स्पष्ट हो रहा है :—

कन्यानां च सम्प्रदानं कुमाराणां च रक्षणं।

मनु० अ० ८—१५२.

स्वामी दयानंद उपर्युक्त श्लोक का उद्धरण देते हुये सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ३ में लिखते हैं:—

"राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् करना। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता पिता को दण्ड देना। अर्थात् राजा की आज्ञा के अनुसार आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावे किन्तु आचार्य कुल में रहे। जब तक समावर्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे।"

सत्य है, संसार में शिष्टता सभ्यता के साथ साथ उत्तम संतान उत्पन्न करने के लिये, जिससे राष्ट्र की वृद्धि संभव है; कुमार-कुमारिकाओं की उचित शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध करते हुये बालकों के कुमारत्व और बालिकाओं के कन्यात्व को सुरक्षित रखना राजा का ध्येय होना ही चाहिये। उसका कर्त्तव्य

है कि जो कोई नियम की अवहेलना करे उसे दंड देकर मार्ग पर लावे।

भारत में क्या हो रहा है? वालक-वालिकायें न योग्यता को प्राप्त होती हैं न उनकी उचित शिक्षा-दीक्षा ही होने पाती है और वे उसके पहिले ही स्त्री-पुरुष-रूपी सूत्र में वांध दिये जाते हैं। जिसका परिणाम उन (वालकों) पर जो पड़ता है, वह राह चलते हुये कभी कभी कानों में गूँज उठते हैं। वे ये हैं:—

अदा मार डालैगी......................अदा मार डालैगी ....तुम्हारी।

तेरी तिरछी नज़रिया........................तेरी तिरछी नज़रिया पै मैं हूँ निसार।

क्यों, क्या राष्ट्र के समुचित प्रबंध का यही रूप है? नन्हें नन्हें वच्चे उन्हीं भावों में पगे हुये हैं, जिनसे उनके समय के पूर्व ही वीर्य-स्खलन अनिवार्य है। वाजारों में स्त्रियों के अशिष्ट चित्रों का प्रदर्शन इस सम्बन्ध में सहायक है। सिनेमा का अनुचित उपयोग, जिनमें विलासी फिल्मों का निरन्तर अंधाधुन्ध विकास हो रहा है, समाज को दूषित वातावरण में रखने को पूर्णतया सफल सिद्ध है। इन वालकों तक ही वात

सीमित नहीं है। बालिकाओं की ओर भी दृष्टि डालिये। वे, इन बालकों की इन क्रियाओं के सदृश क्रिया से आपको वंचित नहीं दृष्टिगत् होंगी। वे भी बहुत सी ऐसी ही अश्लील बातों का प्रकाश करती हुई दिखाई देती हैं। जिसके परिमाण-स्वरूप बारह वर्ष में ही बालिकायें कन्या होकर बच्चों वाली मातायें बन जाती हैं। जो राष्ट्र के कुप्रबंध का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

स्त्रियों की रक्षा के लिये मनु ने यहां तक लोगों को प्रोत्साहित किया है कि उन्होंने तीनों वर्णों को आज्ञा दी है कि उस समय वे शस्त्र धारण करें जिस समय कि वर्णाश्रमियों के धर्म (कर्तव्य) पर आघात होता हो, त्रैवर्णिकों के मध्य विप्लव (बलवे) में और अपनी रक्षा के लिये, दक्षिणा के छीनने पर, स्त्रियों और ब्राह्मणों की विपत्ति में धर्म-युक्त हो शत्रुओं की हिंसा करने वाला दोष भागी नहीं है। उसे दंड नहीं देना चाहिये। जो निम्न (मनु० ८—३४८, ३४९) श्लोक में वर्णित है:—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे।
स्त्री विप्राभ्युपपत्तौ चघ्नन्धर्मेण न दुष्यति॥

यही नहीं, वे आगे के श्लोक में कहते हैं—"चाहे गुरु हो, चाहे बालक हो, चाहे वृद्ध और बड़ा भारी पंडित ही क्यों न हो, जो आततायी होकर कार्य करे, उसको राजा बिना विचार किये ही दंड दे:—

गुरु वा बाल वृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिन मायान्त हन्या देवा विचारयन् ॥

मनु० ८—३५०

मनु मर्यादा के बड़े कायल हैं, जिस व्यक्ति ने मनुस्मृति का अध्ययन निष्पक्ष-भाव से किया है वही समझ सकता है कि मर्यादा को धारण कराने में उनकी मनोवृत्ति कैसी उच्च और प्रशंसनीय थी यद्यपि वे पुरुष और स्त्री के अकारण मेल को स्वीकार नहीं करते हैं, तथापि वे यह भी नहीं कहते हैं कि कार्य-वश स्त्री और पुरुष एकत्र न हों। शिष्टता सभ्यता का समावेश रखते हुए पर-स्त्री संभाषण को वे उचित मानते हैं। जिसको भारतीयों ने समझा ही नहीं, न आधुनिक सुधार-वादी ही इसे समझ रहे हैं।

भारतीयों ने जो समझा उसी का यह परिणाम है, जो

प्राय: देखा जाता है कि किसी पुरुष के समीप किसी स्त्री के कार्यवश जाने में लोगों की धारणायें सशंकित हो उठती हैं। वे उसकी ओर उँगली उठाकर दिखाने लगते हैं। कोई पुरुष यदि किसी स्त्री के पास कार्यवश जाता है तो उसकी भी यही गति होती है, जो स्त्री की। इसका दोष मनु पर नहीं, इसका दोष सामाजिक मनोवृत्ति और मनु के विचारों के दुरुपयोग पर है। जहाँ शिष्टता सभ्यता और शालीनता का उचित समावेश रहता है, उस स्थल के लिये भी लोगों की इस प्रकार की मनोवृत्ति उनकी कृतघ्न धारणाओं का परिचय दे रही है। यदि वह स्त्री कुमारी या विधवा हुई तो लोगों की शंकाएँ और पुष्ट रूप धारण कर लेती हैं। अतः इस प्रकार का वातावरण भारतीय-समाज के लिये हेय और अवांछनीय है। वह अपनी इस मनोवृत्ति में भारतोन्नति की कल्पना का विचार त्याग दे।

मनु कहते हैं जो लोग अकारण ऐसी शंकाएँ करते हैं या द्वेष-वश किसी को दोष लगा देते हैं, राजा उनको भी दंड दे:—

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः।
स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन्॥

मनु ८—२२५

अर्थात् जो मनुष्य द्वेष से कन्या (सदाचारिणी स्त्री) को अकन्या (व्यभिचारिणी स्त्री) कह कर मिथ्या दोष लगावे वह राजा द्वारा १०० पण का दंड पावे, यदि उसके कन्यात्व भंग (सदाचार नष्ट होने को) सिद्ध न कर सके।

उपचार क्रिया केलिः स्पर्शो भूषण वाससाम् ।
सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम् ॥

मनु० ८—३५७

माला चन्दनादि का भेजना, परिहास, आलिंगनादि करना, वस्त्र, आभूषण का स्पर्श करना, (कामातुर हो अन्य की स्त्री को पकड़ना) आसन तथा शय्या पर साथ बैठना इन सब कामों को भी पर-स्त्री-संग्रहण के समान कहा है।

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा ।
नदीनां वापि संभेदे स संगृहणमाप्नुयात् ॥

मनु० ८—३५६

जो पराई स्त्री से तीर्थ या अरण्य (जंगल) वा बन वा नदी के संगम में (कामातुर हो) संभाषण करे उसको पर-स्त्री के हरण का अपराध हो।

इन उपर्युक्त उद्धृत श्लोकों को देखकर बहुधा लोग कह देते हैं कि स्त्री के संग पुरुषों का संभाषण वर्जित है। उधर सुधार-वादियों को मनु के इस विचार से संकुचित दृष्टि की सूचना मिल जाती है। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि वे इन विचारों को कामियों, लम्पटों और दुराचारियों के लिये लिखते हैं। जो समाज में प्रसिद्ध हो चुके हैं, जिनका स्थान समाज में गिरा हुआ है। यहाँ नीचे दिया गया श्लोक हमारे इस विचार को पुष्ट कर रहा है:—

यस्त्वनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत कारणात् ।
न दोषं प्राप्नुयात्किञ्चिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः ॥

मनु० ८—३५५

जो पर-स्त्री-गमन के अपवाद दोष से रहित हो और किसी कारण से दूसरे की स्त्री के साथ लोगों के सामने या एकान्त में भाषण करे तो वह अपराधी नहीं है, न वह दण्ड का पात्र है।

हाँ, विषयी और लम्पट से इस स्थिति में अनाचार की आशङ्का अवश्यम्भावी है। अनाचारी पुरुष ही समाज में बलात्कार करते देखे जाते हैं।

नीचे उद्धृत किये गये श्लोक में मनु कहते हैं:—

कन्यैव कन्यां या कुर्यात्तस्याः स्याद्द्विशतोदमः ।
शुल्कं च द्विगुणं दंड्याच्छिफाश्चैवाप्नुयाद्दश ॥

मनु० ८—३६९

और यदि कन्या, कन्या को (अंगुलियों से) बिगाड़े तो उसको दो सौ पण का दंड होना चाहिये और कन्या के पिता को दुगना शुल्क दे । राजा उस कन्या को १० कोड़े लगवावे । और यदि स्त्री का कर्म ऐसा जघन्य हो तो उसका सिर मुड़वा कर दो उंगलियाँ कटवा दी जायें तथा गधे पर चढ़ाकर शहर में घुमाई जाय । निम्न श्लोक में यही बात कही गई है:—

या तु कन्यां प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्ड्यमर्हति ।
अंगुल्यो रेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा ॥

मनु० ८—३७०

यदि उपर्युक्त कृत्य को पुरुष करे तो वह छः सौ पण दण्ड के योग्य है और तत्काल ही उसकी दो अंगुली काट ली जावे । जो ८—३६७ से हम इसी पुस्तक में १७५ पृष्ठ पर उल्लेख-कर आये हैं ।

भर्तारंलंघयेद्या तु स्त्री ज्ञाति गुण दर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहु संस्थिते ॥
पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥

मनु० ८—३७१, ३७२

जो स्त्री अपने बाप-दादे के धन और अपने रूप गुण से गर्विष्ठ होकर पराये पुरुष के साथ शयन करके पति का निरादर करे, अर्थात् उपयुक्त पति का अनादर करके व्यभिचार फैलावे। राजा उसे बहुत लोगों के सामने कुत्तों से नुचवावे और उस जार पापी (व्यभिचारी) पुरुष को राजा तपाये हुए लोहे की शय्या पर सुलाकर ऊपर से लकड़ी रखवा दे। जिससे वह पापकर्त्ता जलकर खाक़ हो जाये।

ध्यान रहे, उपर्युक्त श्लोक के भाव उन स्त्रियों के लिये हैं जो रूप, धन, से मदोन्मत्त हो अपने पतियों का सर्वदा निरादर करती, दूसरे पुरुषों से प्रेम रखती हुई समाज में अनाचार की वृद्धि करती हैं। जिनके कृत्यों से समाज का वातावरण दूषित होता है और वे व्यभिचारी पुरुष नित्य ही ऐसी अनेक स्त्रियों

को विगाड़-विगाड़ कर समाज को गंदा वनाते हैं, ऐसों के लिये ऐसे ही कठोर दंडों का विधान उचित है। शिष्टता, सभ्यता विना भय के स्थापित नहीं हो सकती।

व्यभिचारी पुरुष (जो समाज में अपने व्यभिचार या वेश्यागमन के कारण प्रसिद्ध है) दंडित होने पर यदि एक वर्ष के वाद फिर वैसा ही अपराध करे तो उसे पहले से दूना दण्ड दिया जाना चहिये। व्रात्य पुरुष की स्त्री और चाण्डालिन के पास जाने वाले के लिये भी राजा इसी दंड की व्यवस्था करे। अर्थात् जो पुरुष एक वर्ष के वाद फिर उसी व्रात्य स्त्री (चाण्डाल पत्नी) से सहगमन करे, तो राजा उसे पूर्व दंड का दूना दंड दे। इसी वात को निम्न श्लोक में वतलाया गया है:—

संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणोदमः।
व्रात्यया सह संवासे चाण्डाल्या तावदेव तु॥

मनु० ८—३७३

मनु ८—३८९ में कहते हैं:—

माता-पिता, स्त्री पुत्र ये अत्याज्य होते हैं। इनको जो विना पतित हुए त्यागे उसको राजा छः सौ पण का दण्ड दे।

सचमुच वृद्ध माता-पिता, अर्थहीन स्त्री, यह त्याग देने योग्य नहीं हैं, न बालक ही त्यागने योग्य है, इनके भरण पोषण की व्यवस्था करना हर पुरुष का कर्तव्य है। अतः कर्तव्य से वंचित होने के अपराध में राजा उसको दंडित करता है।

इन दंडों को जिनका जिक्र ऊपर किया गया है, देख कर संभव है मनुष्य कह दें कि बड़े कठोर दंड है ? इतने कठोर दंड नहीं दिये जाने चाहिये ? उनके इस प्रश्न का उत्तर ८—१२९ से उन्हें मिल जायगा। जिसमें बतलाया गया है कि पहले वाक् (निन्दा) दण्ड दे, दूसरा धिक्कार तीसरा धन दंड और चौथा बध (कोड़े या बेंत और प्राण दंड) दे।

इस प्रकार राजा के द्वारा पुरुषों और स्त्रियों के लिये मनु ने सरल और कठोर सभी प्रकार के दंड के नियम निर्माण किये थे।

तलाक़-समस्या

विधिवत्प्रति गृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ।
व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥

मनु० अ० ९—७२

"आवश्यकता आविष्कार की जननी है। महापुरुषों के जीवन हमें यह शिक्षा देते हैं, और जाते समय, समय-रूपी बालू पर अपने पद के चिह्न छोड़ जाते हैं, जो हमें पथ-प्रदर्शक का काम देते हैं।"

—स्वामी विवेकानन्द

आज भारतीय समाज में तलाक़ का प्रश्न बहुत अनिवार्य समझा जा रहा है, यद्यपि तलाक़ का नाम लेते ही समाज में कुछ ऐसे मनुष्य हैं, जो चौंक पड़ते हैं, इनके यह चौंकने की क्रिया इतने जोर से होती है कि संभवतः यदि उन्हें

कोई विषैला जन्तु डस जाता तो वे इतनी जोर से न चौंकते ? उनके रोम रोम खड़े हो जाते हैं, मुखाकृति पीतवर्ण और नेत्र रक्त के सदृश दृष्टिगत् होने लगते हैं। यह क्यों ?

यद्यपि ऊपर जिस श्लोक का उद्धरण दिया गया है, वह पुरुषों के पक्ष में स्पष्ट सूचना दे रहा है, वह कहता है—"जो कन्या (युवती स्त्री) बुरी हो (जिसके आचरण और व्यवहार अच्छे न हों) जो रोगिणी हो, पतित और महाभ्रष्ट हो, जिसके दूषित चरित्र और विचार से अज्ञान होने के कारण हम (पति) छले गये हों, उसे विधि-पूर्वक अपनी भार्या (पत्नी) बनाकर भी त्यागा जा सकता है।"

आगे कहते हैं:—

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः ।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हृत्वा संवसेत् ॥

मनु० ९—७७

द्वेष करने वाली स्त्री की एक वर्ष पर्यन्त प्रतीक्षा करे। फिर उसके अलंकारादि जो उसने दिया हो सब छीन ले और उसके साथ न रहे (अर्थात् त्याग दे)।

वंध्याऽष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृत प्रजा ।
एकादशे स्त्री जननी सद्यस्त्व प्रियवादिनी ॥

मनु० ९—८१

आठ वर्ष तक कोई सन्तान न हो तो दूसरी स्त्री करे, और सन्तान होके मरते ही रहें तो दश वर्ष में (दूसरी स्त्री करे) और लड़की ही होती हो तो ग्यारह वर्ष के पश्चात्, तथा अप्रिय बोलने वाली हो तो उसी (उपर्युक्त लिखे अनुसार) समय में (अर्थात् एक वर्ष प्रतीक्षा करके दूसरी स्त्री) करे।

या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः ।
सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित् ॥

मनु० ९—८२

जो सर्वदा बीमार रहती हो, परन्तु पति के अनुकूल शीलवती हो तो उससे आज्ञा लेकर दूसरी स्त्री करे और उसका अपमान करना कभी उचित नहीं है।

अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद् रुषिता गृहात् ।
सा सद्यः सन्निरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥

मनु ९—८३

दूसरी स्त्री आने पर यदि पूर्व स्त्री (किसी कारण-वश) रुष्ट होकर घर से निकल जावे तो वह उसी समय रोक कर रक्खी जाय अथवा उसको उसके माँ बाप के यहाँ पहुँचा दिया जाय। (आगे वह पति से भरण-पोषण के अर्थ सहायता लेती रहे)।

निम्न श्लोक में ऐसी (कठोर वचन बोलने वाली) स्त्री का (जो पति द्वारा त्यागी गई है या जिसने स्वयं अपकृष्ट या दुर्व्यवहार करने वाले पति को छोड़ दिया है) पति कर लेने की स्पष्ट सूचना है।

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥

मनु० ९—१७५

जो स्त्री पति द्वारा त्यागी जाने पर या विधवा होने पर या अपनी इच्छा से (पूर्व) पति का परित्याग कर दूसरे पति को वरण कर उससे संतान उत्पन्न करती है, वह उस जन्मदाता का पौनर्भव (अर्थात् दूसरी शादी से उत्पन्न) संतान कह-लाती है।

प्रोषितो धर्म कार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थंषट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥

मनु० ९—७६

धर्म-कार्य के लिये पति विदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या या यश के लिये गया हो तो छः वर्ष और विषय-वासना से गया हो तो तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे। (अन्यथा दूसरे पति का वरण कर ले।)

यह हुआ पति-पत्नी के परस्पर विषमता के उपस्थित होने पर एक दूसरे का परित्याग करने का स्मृति में उपलब्ध प्रमाण!—परन्तु हमारे पुराणपंथी अपनी रटन्त-चिरैया में सबका बहिष्कार कर रहे हैं, उधर आजकल के आधुनिक सुधार-वादी धर्म-शास्त्रों की शिक्षा को एकांगी और अधर्मपूर्ण बता रहे हैं। क्या परमात्मा इन दोनों को कभी नेत्र देगा?

प्रसंगवश मैंने एक दिन एक शिक्षिता स्त्री से पूछा—"क्यों जी! तलाक़ के विषय में आपकी क्या सम्मति है?" मुझे जो उत्तर मिला, वह रूढ़ियों की गुलामी का एक उपलक्षण था। या यों कहना चाहिये कि वह अन्ध-भक्ति का चित्रित चित्र था।

हम यह जानते हैं कि किसी भी सती (एक पति-व्रत) के समीप तलाक़ जैसा शब्द, जैसे भाव का सृजन करेगा, वह प्रत्येक मनुष्य की आत्मा को प्रकम्पित करने में तीक्ष्ण है। उस सती के हृदय की मूक-वेदना विशाल ब्रह्मांड को हिला देगी। उसके मुख पर की उद्भासित ·अपमान की रेखा दृढ़ और बृहद् हिमांचल को भी टुकड़े टुकड़े करके फेंक सकेगी। परन्तु सती को तलाक़ की आवश्यकता ही क्यों? सती-हृदय तो भयानक से भयानक कष्टों के सहन के लिये हर क्षण तैयार है, उसके लिये तो उसका पति चाहे भी जैसा हो 'पति' ही है। परन्तु जो इन भयानक कष्टों से छुटकारा पाना चाहती हो, और चाहती हो कि उसका जीवन सुख और शांति के सम्पर्क में रमण करता हुआ व्यतीत हो? वह ऐसे पति का परित्याग कर देना ही उपयोगी समझेगी जो उसके भरण पोषण से दूर रह कर वेश्याओं में बैठ रंगरलिया करता होगा? जो अपनी पत्नी का तिरस्कार करता हुआ अन्य की पत्नियों में आनन्द का अनुभव करता होगा? नित्य नई नई स्त्रियाँ लाकर छोटे से घर में मीनाबाज़ार जैसे नगर की रचना करता होगा? उसकी स्त्री चाहे भाड़ में जाये, परन्तु उसे अपनी इन्द्रिय-लिप्सा को संकुचित नहीं करना है।

क्यों—क्या यह दृश्य आत्मा को प्रकम्पित करने में तीक्ष्ण नहीं है? मूक-वेदना का चिह्न क्या यहाँ विशाल ब्रह्मांड को कंपाने में असमर्थ है? यहाँ की स्थित अपमान की रेखा वृहद् हिमाचल के टुकड़े टुकड़े क्या वह तो उसको नेस्तनाबूद तक कर देने को कमर कसे तैयार है। क्या संसार की अन्ध-भक्ति और रूढ़ियों की गुलामी उसकी रक्षा करने को समर्थ है। उसकी अन्तःकरण से निकली हुई आह की चिंगारी सम्पूर्ण विश्व को भस्म कर दे सकती है। इसीलिये तो मनु ने कहा है:—

जामयो यानि गेहानि शपन्त्य प्रति पूजितः।
तानि कृत्या हतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥

मनु० ३—५८

जिन घरों की स्त्रियाँ कुपित हो कर शाप दे देती हैं, अवश्यमेव ही उसका नाश हो जाता है। इसलिये मुझे खेद है कि ऐसे दुखद दृश्य के परिष्कार-स्वरूप यदि मनुष्य प्रयत्न नहीं कर सकता तो अखिल विश्व में उससे इतर और कौन प्राणी है जो इस विषमता के निवारण में समर्थ होगा?

यह एक आवश्यक प्रश्न है, जो हमारे सामने मौजूद है।

इस पर विचार करना प्रत्येक भारतीय का परम कर्तव्य है। यद्यपि यह हम जानते हैं कि लोग इस प्रश्न पर आचार की दुहाई देकर आकाश पाताल को एक कर देने की भरसक चेष्टा करेंगे। वे अपने प्रयत्नों में धज्जियां उड़ाने से पीछे न रहेंगे, परन्तु उनकी सुनता कौन है ? आचार को इस प्रकार गौण रूप देकर भारतीयों ने वहुत कुछ अनुभव कर लिया है। इसलिये यह प्रश्न अब वालू की भित्ति पर स्थित नहीं ? यह हल होकर ही रहेगा ? मनुष्य-जीवन में इसकी आवश्यकता है, वह इसलिये कि मनुष्य का जीवन शान्ति और प्रेम का इच्छुक है ? विपमता का निवारण करना मनुष्य का ही कर्तव्य है, और हमारे धर्म-शास्त्र हमारे साथ हैं। फिर तलाक़ अधर्म कैसे ? धर्म का लक्षण हमारे उत्थान का ही आंकाक्षी है, पतन का नहीं ? इसलिये प्रत्येक दम्पतियों को विषमता से निकालना भी तो धर्म ही है ? जिसमें कि उनका जीवन मर्यादा-विहीन और स्वाद-रहित है ? मैं ऐसे स्वाद-रहित नीरस जीवन को धार्मिक-जीवन कहने के लिये तैयार नहीं ?

जिस आचार की मिथ्या कल्पना का ऊपर उल्लेख किया गया है पिछले वर्षों में तलाक़ प्रश्न के उपस्थित होने पर उसी की

मिथ्या आशंका ने भारतीय समाज में हड़कम्प मचा दिया था। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि यह आचार क्या स्त्रियों के ही पल्ले पड़ा है अथवा पुरुषों के भी ? यदि इसका अधिकार पुरुषों को भी है तो फिर उनका जीवन इतना अनाचार-पूर्ण क्यों है ? पति-पत्नी के बीच की विषमता (जिसे आचार नहीं कहा जा सकता), जहाँ शान्ति का निवास नहीं है, जहाँ दो हृदय परस्पर एक नहीं हैं, जहाँ एक प्राणी दूसरे प्राणी के प्राणों का ग्राहक है, एक दूसरे को परस्पर देखकर जिसके हृदय और रक्त उथल-पुथल करने लगते हों, उस जीवन से वह जीवन श्रेष्ठ है ? जहाँ शान्ति का साम्राज्य है, जहाँ दो हृदय एक हैं, जहां प्रेम का प्रसारण है, जहाँ का जीवन आदर्श की ओर बढ़ने का इच्छुक है। चाहे वह इस कृत्रिम और बनावटी आचार का बलिदान करके ही प्राप्त किया गया हो ?

आचार-पतन—समाज की व्यवस्था के विरुद्ध आचरण—की अशंका प्रत्येक भारतीय को अवश्य ही होनी चाहिये, परन्तु उसके वास्तविक रूप को हृदय में स्थान देना अनिवार्य ही होगा ? हम यह जानते हैं कि सती स्त्री, आचार का पतन करना अच्छा न समझेगी, इसलिये कि उसको पढ़ाया

हो नहीं गया प्रत्युत यह सिद्धान्त है कि पति के समीप पत्नी और पत्नी के समीप पति ही सर्वस्व है। वही उसका आराध्य-देव और चिरकाल तक साथ देनेवाला मित्र है, परन्तु किस प्रकार? यह एक दूसरा प्रश्न है जो तलाक़-समस्या को हल करके ही छोड़ेगा।

भारतवर्ष में सर्वदा से स्त्रियों की मर्यादा को एक और ही दृष्टि-कोण से देखा जाता रहा है, जो पुरुषों की मर्यादा की अपेक्षा श्रेष्ठ होती थी, जिसमें इनके प्रति आदर का भाव एक विशेष रूप से समाविष्ट था। यही कारण है कि भारतवर्ष में इनकी रक्षा करने के लिये ऋषि मुनियों ने भारतीयों को एक विशेष रूप से आदेश किया है। स्त्रियाँ जाया एवं शक्ति का रूप थीं। एक ही जीवन में एक ही पुरुष के पास यह कई रूपों में उपस्थित होती थीं। प्यार से पति को भोजन कराने के समय इनका रूप मातृत्व के उच्च विशाल शिखर पर चढ़ जाता था। परिचर्या के समय यह भगिनी का रूप धारण करती थीं। प्रेम के समय इनकी मनोहर मूर्ति को देखकर पति का क्लांत एवं विकृत मन संगठित हो आनन्द का अनुभव करने लगता था। ऐसी आर्य ललनाएँ जिसको एक बार अपना दिल दे

देती थीं। फिर दूसरे को अपने उस दिल को देना हेय समझती थीं। धृष्टतावश जो स्त्रियाँ अपना दिल दूसरे को सौंप भी देती थीं, उनकी वह आर्य ललनाएँ खिल्लियाँ उड़ाती थीं। वह कहती थीं—सती हृदय के लिये उसका पति चाहे भी कैसा हो, वह उसका देवता है। पति चाहे जुआड़ी हो, चाहे शरावी हो, चाहे व्यभिचारी और कुलांगार ही क्यों न हो, उसको अपने पति का परित्याग नहीं करना चाहिये? उसे यत्न करना चाहिये कि वह अपने जीवन को उसी पति के संसर्ग में ही समाप्त कर दे। इसी दृष्टि कोण को लेकर मनु ने लिखा है:—

पतिं हित्वाऽपकृष्टं समुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सामवेल्लोके पर पूर्वेतिचोच्यते॥

मनु० ५—१६३

अर्थात् अपने अपकृष्ट पति को छोड़ कर उत्कृष्ट को करे, तो लोगों में उसकी निन्दा होती है, उसको दो पति की स्त्री है, ऐसा कहते हैं।

परन्तु आजकल उस वातावरण का आभाव होने से तथा पुरुषों की इस मनोवृत्ति से अधिक प्रोत्साहन मिलते रहने के

कारण स्त्री समाज अब कष्ट का अनुभव कर रहा है, इस कष्ट के निवारण में समाज की ऐसी संकुचित मनोवृत्ति छोटी चीज़ है।

आचार स्त्रियों के ही पल्ले नहीं पड़ा है, इसका धारण करना पुरुषों का भी कर्तव्य है। यद्यपि यह बात अवश्य है कि आज कल थोड़ी सी सुविधा या स्वतंत्रता पाकर अथवा पश्चिमीय सभ्यता के सम्पर्क में रमण कर स्त्रियों में भी उच्छृङ्खलता उत्पन्न हो चली है। जिसका दिग्दर्शन आगे कराया जायगा। जिसका कारण अधिकारवाद है, कर्तव्यवाद नहीं। कर्तव्यवाद में तो इसको स्थान ही नहीं मिल सकता।

एक पत्नी-व्रती मनुष्य के समीप उसकी स्त्री कैसी ही क्यों न हो? कठोर बचन बोलने वाली हो, व्यभिचारणी हो, उसकी स्त्री ही है! संभव है, व्यभिचार-कृत्य से घृणा कर पति उसका परित्याग कर दे। परन्तु एक पत्नी-व्रत का भंग न कर सदाचार की वेदी पर बलि हो जाना उसका कर्तव्य ही होना चाहिये? जिसे प्रकृति पर विजय प्राप्त करना कहते हैं। परन्तु संसार में ऐसे मनुष्य बहुत कम देखे गये हैं। फिर स्त्रियों के लिये जो प्रकृति से प्रेम करती हैं, प्रकृति पर

विजय प्राप्त करने को बाध्य करना महान् मूर्खता का द्योतक है। प्रकृति पर विजय तो हृदय से होना है। कृत्रिम उपायों से नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि कृत्रिम उपाय कुछ सहायक हो जायें परन्तु सर्वथा उन्हें रोका नहीं जा सकता। जो सर्वथा रोकने की चेष्टा करते हैं वे देखते हैं कि वह छिपकर, लुककर अथवा आँख बचाकर प्रकृति-प्रेम में अनुरक्त हैं।

थोड़े समय के लिये बात और है, और अधिक समय के लिये बात और ? क्या कोई कह सकता है कि सदाचार-मय जीवन यही है? और सदाचार की सच्ची प्रतिमा और आदर्श की स्वर्णमयी युगल-मूर्ति ऐसे ही स्थानों में बसती है, जहाँ का निम्न-लिखित दृश्य होता है। जिसे चाँद के भूतपूर्व संपादक और अध्यक्ष श्री रामरखसिंह जी सहगल ने सरस्वती १९३५ की जनवरी मास के अङ्क में 'तलाक़' शीर्षक लेख द्वारा चित्रित कराया है। हम पाठकों के अवलोकनार्थ उसका उद्धरण दे रहे हैं। वे लिखते हैं:—

(क) बाल-विवाह-रूपी पिशाच कृत्य का इस देश में बोल-बाला है। बालक बालिकाएं "अटूट" विवाह-संबंध में उस समय ही बाँध दिये जाते हैं, जब वे सांसारिक बातों से

सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। जब वे जानते ही नहीं कि विवाह किस चिड़िया का नाम है।

(ख) स्त्री-शिक्षा का जो सर्वविदित अभाव है, उसके संबन्ध में कुछ न कह कर इस त्रुटि के एक विशेष पहलू की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। विवाह के बाद बालक को प्रायः उच्च से उच्च शिक्षा दिला कर विलायत आदि देशों में पढ़ने के लिये भेज देते हैं और बालिका को हिन्दी की एक दो पुस्तकें पढ़ाकर १० वर्ष की अवस्था होते ही पर्दे की चहार-दीवारी में क़ैद कर देते हैं, उसकी शारीरिक तथा मानसिक उन्नति की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया जाता। परिणाम वही होता है जो होना चाहिये। पति देवता पी० एच० डी०, डाक्टरी, बैरिस्टरी अथवा आई सी० एस० आदि की परीक्षा पासकर तथा स्वतन्त्र देशों में सालों विचर कर बड़ी बड़ी लालसायें हृदय के प्रत्येक कोने में छिपा कर, घर लौटते हैं, और यहाँ उन्हें मिलती है, गन्दे वायु-मण्डल तथा निरन्तर कुसंस्कारों की गोद में पली हुई "पूत-देइया"। ऐसी हालत में 'प्रेम' नामक जन्तु उदय हो ही कैसे सकता है?

"(ग) दहेज की कुप्रथा कोढ़ में खाज का काम करती है।

मैंने कई उदाहरण वास्तव में बड़े दयनीय देखे हैं। मैंने एक से एक सुशिक्षिता तथा पूर्ण-यौवना बालिका का विवाह निरक्षर भट्टाचार्य से केवल इसलिये होते देखा है, क्योंकि लड़की के पिता निर्धन होने के कारण अच्छे वरों का मुँह माँगा मूल्य चुकाने में असमर्थ थे।

"मैंने ऐसे भी अनेक उदाहरण देखे हैं जिनमें ८ वर्ष से १४ वर्ष की बालिकाएँ ४० से ६० वर्ष के बूढ़ों के गले में ऊँट की घण्टी की भाँति, केवल निर्धनता के कारण बाँध दी गई हैं। ऐसी परिस्थिति में जकड़ी हुई महिलायें यदि सदाचार-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकें तो उसे अपवाद ही समझना चाहिये। नहीं तो सुमार्ग के पथ से उनका विचलित हो जाना स्वाभाविक ही है। एक सीमा तक ही प्रकृति से युद्ध ठाना जा सकता है।

"(घ) जाति-पाँति का ढकोसला भी वैवाहिक-संबंधों में कम घातक नहीं सिद्ध होता। इस जमाने में देश में ऐसी जातियों की कमी नहीं है, जिनमें विवाह-सम्बन्ध एक संकुचित दायरे के भीतर ही किये जाते हैं, कोई वर अच्छा मिल गया तो लड़की की अच्छी क़िस्मत का फल समझना चाहिये। माता-पिता की

दृष्टि बालक के स्वास्थ्य और योग्यता पर नहीं रहती। उनकी पक्षपात-पूर्ण दृष्टि रहती है जाति की उच्चता पर, मैंने ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरण देखे हैं, जिनमें एक से एक करुणा-पूर्ण बेमेल-विवाह केवल इसलिये हुए हैं कि परिवार के अभिभावकों में नैतिक-बल का अभाव था, अथवा उनमें रूढ़ियों के मस्तक पर पाद-प्रहार करने का साहस नहीं था। ऐसे बेमेल-विवाह समाज की दृष्टि से भले ही अटूट समझे जाएँ, पर व्यवहार की दृष्टि से वे हद दर्जे के घृणित सम्बन्ध हैं। कुत्तों तथा घोड़ों के जोड़े मिलाने के पूर्व तो उनकी नस्ल, क़द तथा गुणों की जाँच की जाए और अपनी प्रिय संतान का विवाह समय में इन सारी बातों की अपेक्षा!—ऐसे बेमेल विवाहों का परिणाम क्या कभी संतोष-जनक हो सकता है।

"(ङ) आजकल लिखी पढ़ी लड़कियों में जो आजीवन अविवाहिता रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है, उसका कारण इतना प्रत्यक्ष होते हुये भी समाज के कर्णधारों को दिखाई नहीं देता, असल बात यह है कि एक ओर स्त्री-शिक्षा का दिनों-दिन प्रचार बढ़ रहा है और दूसरी ओर स्थिति पालकता की उपासना की जाती है। जिन कतिपय समस्याओं का

उल्लेख ऊपर किया गया है, उनकी आड़ में अपनी अन्य बहनों को पिसती हुई देखकर वे इस प्रकार के विवाहों को दूर से ही नमस्कार करने में ही अपना कल्याण समझती हैं। वे प्रायः अपनी इच्छानुकूल किसी मन चाहे नवयुवक को अपना आराध्य-देव बना तो लेती हैं, पर पारिवारिक विच्छृङ्खलता एवं कुसंस्कारों के कारण उनसे विवाह-सूत्र में नहीं बँध सकतीं। इस श्रेणी के नवयुवतियों के प्रति जितनी भी सहानुभूति प्रदर्शित की जाये, थोड़ी है।....................

"१—एक बार कुछ कार्यवश × × × गया—ठहरा तो मैं एक दूसरे मित्र के यहाँ था, पर वहीं के एक प्रतिष्ठित एडवोकेट महोदय ने मुझे शाम के खाने के लिये साग्रह आमंत्रित किया। खाना खाकर मैं गुशलखाने में हाथ धो रहा था, इतने में एकाएक शायद फ्यूज़ जल जाने के कारण बिजली फेल होगई, नौकर हाथ धुला रहा था—मेरे एडवोकेट-मित्र तौलिया ढूँढ़ रहे थे। इतने में ही एक भारी सी चीज़ मेरे खद्दर के कोट के जेब में घुसी और निकलना ही चाहती थी कि मैंने जेब टटोली। मैं अवाक् रह गया, जब मेरे हाथ में चूड़ियों से भरा एक कोमल हाथ आया। इतने में ही बिजली का

प्रकाश हो गया मैंने देखा, वह मेरे एडवोकेट मित्र की सर्वांग सुन्दरी सगी भार्या का हाथ था! देवी जी झपट कर चली गईं—कनखियों से मैंने देखा, मेरी जेब में बन्द लिफ़ाफ़ा पड़ा था, जेब को जरा झुकाकर मैंने ऊपर से ही देखा—इस लिफ़ाफ़े पर आदर-सूचक विशेषणों सहित मेरा नाम लिखा था। कौतूहल वश मुझे पान तक खाने की सुध न रही। साधारण शिष्टाचार की रक्षा न करना होता तो शायद मैं उसी दम मोटर में जा बैठता।......................................

मेरे एडवोकेट मित्र की धर्म-पत्नी ने मेरी बहुत कुछ प्रशंसा करने के बाद उस पत्र में लिखा था—इस समय उनकी उम्र १९ वर्ष की है। विवाह हुए तीन वर्ष हुए हैं, इन तीन वर्षों के सुदीर्घकाल में शायद तीन ही बार उन्हें वैवाहिक-जीवन का वास्तविक सुख मिल पाया है। कारण यह था कि उनके पति देवता एक दूसरी रमणी पर जी जान से आसक्त थे, साथ ही साथ एक वेश्या के प्रेम जाल में फंसे हुए थे।...............

अपनी स्वाभाविक कमजोरियों की चर्चा करते हुए उसने लिखा था—"मैंने विगत-मास तक अपने आदर्शों की रक्षा की, पर देखती हूँ कि अधिक काल तक न कर सकूँगी, यह मेरी कम-

जोरी भले ही हो पर इसे आप अस्वाभाविक कदापि नहीं कह सकते। मैं भी एक लॉ स्टूडेन्ट से प्रेम करने लगी हूँ, वे अभी अविवाहित हैं। मुझे वे इतना चाहते हैं कि जिसकी कोई हद नहीं, मुझे पत्नी-रूप में पाकर वे निहाल हो जायेंगे और मैं उन्हें पाकर। पर रूढ़ियों की, कानून की, और अपनी रक्षा एक साथ करने का, कोई मार्ग मुझे दिखाई नहीं देता। क्या कृपया! आप बतलायेंगे कि ऐसी परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिये?

"२—इसी प्रांत के एक डिप्टी कलक्टर महोदय मेरे मित्र हैं, गोरे चिट्टे बड़ी-बड़ी कटीली आँखोंवाले, बड़े मिलनसार कमाऊपूत, कचहरी में जब मिलिये, बड़े प्रसन्न अपने को भूले हुए, बात बात में चुहल, चाहे जिस विषय पर उनसे बहस कर लीजिये।

"घर पर देखिये, सुस्त कुम्हलाये हुये उद्विग्न, किसी भी बात का उत्तर बहुत सोच कर देंगे—जैसे कुछ जानते ही नहीं। जब देखिये बरामदे में ही पड़ी हुई आराम कुर्सी पर पड़े हुए ठंडी सांसें लेते करवटें बदल रहे हैं। मैंने खोद खोद कर उनसे एक दिन इस विचित्र परिवर्तन का कारण पूछा, बहुत टाल-मटोल के बाद बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू भर कर वे अपने वैवाहिक-

जीवन की असफलता की कहानी मुझे सुनाने लगे। वास्तव में उनके लिये उनका घर धधकते हुये घर से कम न था, वे अपनी सह-धर्मिणी के फूहड़पन से बड़े बेज़ार थे, पत्नी में उनके प्रेम का अभाव नहीं था, पर कोरे प्रेम द्वारा तो जीवन-नौका पार नहीं हुआ करती। खाने में भी मिर्च मसाले के बिना वास्तविक स्वाद नहीं मिलता। ठीक इसी प्रकार स्त्री-सुलभ-गुणों का अभाव पत्नीत्व के गौरव-पूर्ण जीवन को साक्षात् रौरव (नर्क) में ढकेल देता है। यहाँ, यही डिप्टी साहब की उदासी का कारण था। उन्होंने मुझे बतलाया कि पिछले दस वर्षों के वैवाहिक जीवन-काल में दो घंटे प्रतिदिन औसत के हिसाब से उन्होंने अपनी धर्म-पत्नी को समझाने बुझाने में अवश्य खर्च किये होंगे। अच्छी से अच्छी पुस्तकें पढ़कर उनका सार देवी जी को समझाया होगा। पर चिकने घड़े पर पानी की भाँति उनपर इसका कोई भी व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। अपने को सुधारने की अपेक्षा बिगाड़ की ओर ही उनकी प्रवृत्ति अधिक बढ़ती गई, कहीं आने जाने की मुझे आदत नहीं..........................कभी, कभी एक दूसरा विवाह या ऐसा ही कुछ करने की इच्छा प्रबल हो उठती है। पर ज़रा बदनामी का ख्याल है। शायद कुछ

दिनों की रगड़-मगड़ से यह व्यर्थ का संकोच भी जाता रहे।

"३—बिहार के एक प्रतिष्ठित और विख्यात घर की एक महिला ने मेरे पास एक पत्र १०० रुपये के बीमे के साथ भेज कर अपनी कष्ट कहानियों का जो करुणा-पूर्ण उल्लेख किया था, उसका प्रत्येक अक्षर इस समय भी मेरी आँखों के सामने है। उनका विवाह हुए दस वर्ष बीते थे। इस बीच में उन्हें तीन नई-नई सौतों का स्वागत-सत्कार करना पड़ा, बात यह थी कि पति देवता नपुंसक थे, अतएव मातृत्व के पद पर सुशोभित होना इन देवियों के वश की बात नहीं थी। इधर बड़े बूढ़ियों के तक़ाज़ों को टालना भी पति देवता के सामर्थ्य के बाहर की बात थी।.........................उन्होंने लिखा था—मेरी सौतों की अवस्था क्रमशः १८, १६ और १५ है। तीनों ही बड़ी सुन्दरी हैं, बड़ी सरल और सहन-शील भी, पर इन सारे दैवी गुणों का उन्हें बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ा है। हम लोगों में से एक दूसरे के प्रति पारस्परिक प्रेम का अभाव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति हो ही जाती है। इसीलिये जीवन के दिन कटे जाते हैं। हम प्रकृति से कब

तक युद्ध ठान सकेंगी सो नहीं कहा जा सकता ? अखबारों में सारी बातें खोल कर छपवा देने से क्या मेरी सौतों को पुनः विवाह की अनुमति मिल जायेगी ?

"४—एक प्रसिद्धि-प्राप्त बैरिस्टर का दाम्पत्य-जीवन मुझे हद दर्जे का करुण प्रतीत हुआ है। विलायत से लौटने पर अपनी "पूत-देइया" से उनकी नहीं पटी। उसे तुरन्त मायके भिजवा दिया। आपकी लालसा किसी "पढ़ी-लिखी" अप-टू-डेट बालिका का पाणि-ग्रहण करने को लालायित हो उठी। उनकी जाति में लड़कियों की कमी नहीं थी, बहुत थोड़े ही प्रयत्न से उन्हें मैट्रिक पास चश्मा लगाने वाली तथा ऊँची एड़ी की जूती पहनने वाली जैसी बैरिस्टर साहब चाहते थे, मिल गई। मुझे याद है खूब दावतें उड़ी थीं।.....................एक दिन बहुत सुस्त थे। पूछ-ताछ करने पर अंग्रेजी के बहुत चुने हुए शब्दों में देवी जी की तारीफें करने लगे—"जब मैं कोर्ट जाने के लिये स्नान करने जाता हूँ तब देवी जी सोकर उठती हैं, जब मैं रसोइया द्वारा बनाया हुआ जला-कटा भोजन करने बैठता हूँ, तब देवी जी बाथ-रूम में होती हैं, जब मैं कपड़े पहिन कर बाहर निकलता हूँ, तब देवी जी ड्रेसिंग-रूम में अपनी

रूपराशि की मरम्मत में लगी होती हैं। दिन भर क्या करती हैं, सो पता नहीं। शायद नाविल पढ़ती हैं, और ग्रामोफोन सुनती हैं, पर शाम को जब मैं कचहरी से लौटता हूँ तब वह देवी जी के टेनिस का समय होता है। नौकर द्वारा दी गई चाय पीकर ज़रा आराम करने बैठता हूँ, तब देवी जी प्रायः सनीमा में होती हैं..

"५—मेरी एक सुपरिचिता तरुणी की करुण कहानी ने मेरे हृदय पर वह भीषण आघात किया है, उसे शब्दों द्वारा मैं कैसे व्यक्त करूँ। मेरे लिये वास्तव में यह एक समस्या हो गई है। फिर भी मैं चेष्टा करूँगा, अस्तु:—

"पाँच वर्ष के नन्हें से जीवन में उनका अटूट सम्बन्ध स्थापित करा दिया गया। जब उन्हें पंडित जी के द्वारा क, ख, ग पढ़वाया जा रहा था। दहेज-रूपी राक्षस से त्राण पाने के लिये उनके संपन्न और सुशिक्षित पिता ने एक निर्धन तथा भोंदू बालक से उनका विवाह कर दिया। पिता ने शुभ सोचा था, उनकी धारणा थी कि दस पन्द्रह हज़ार रुपये एक मुश्त दहेज देकर यदि यही रक़म धीरे-धीरे बालक की पढ़ाई में व्यय की जाये तो एक निर्धन-परिवार का भविष्य भी उज्वल हो

सकता है, उनकी कन्या का भी—वास्तव में उन्होंने दहेज़ का सदुपयोग करना चाहा था। उनकी इच्छा एक हद तक जरूर पूर्ण हुई, पर देवी जी के लिये यह सम्बन्ध घातक सिद्ध हुआ।

"स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती होने के कारण पिता ने लड़की को भी खूब पढ़ाया। देवी जी इस समय बी० ए० पास करने के बाद एक ट्रेनिंग कालेज में शिक्षा प्राप्त कर रही हैं और पति देवता × × × में वकालत कर रहे हैं। देवी जी उच्च-शिक्षा प्राप्त करने की लालसा से शीघ्र ही योरप प्रस्थान करने की बात सोच रही हैं। इस परिवार से विशेष घनिष्ठता होने के कारण मैं खूब जानता हूँ कि 'अटूट-संबंध' में जकड़ी रहने पर भी पति-पत्नी में भाई और बहन जैसा पवित्र सम्बन्ध है। पति देवता देवी जी से प्रेम करते हैं और देवी जी घृणा!..................................देवी जी का प्रेम किसी दूसरे से रहा है, जो व्यक्ति देवी जी का प्रेम-पात्र है, वह विवाहित होते हुए भी एक ऐसे अभाव का पग-पग पर अनुभव करता है, जिसे देवी जी ही पूर्ण कर सकती हैं।

"एक बात और है देवी जी के पति देवता पर एक ऐसी बालिका आशक्त है जो बी० ए० क्लास में उनकी सहपाठिनी थी।

उसने इन्हीं के वियोग में आजीवन अविवाहिता रहने का निश्चित संकल्प कर लिया है। पर हिन्दू धर्म की संकीर्णता एवं कानूनी विडम्बनाओं के कारण चार प्राणियों की चिरसंचित आकांक्षाओं का प्रत्यक्ष खून हो रहा है।"

यह हैं श्री सहगल जी के अनुभव-पूर्ण शब्द ! जो प्रकट कर रहे हैं, कि बाल-विवाह, बेमेल विवाह, संकुचित (जाति-पाँति के बंधन में बँधकर) दायरे में किया गया विवाह, तथा वर और कन्या की परस्पर की प्रसन्नता की कोई चिन्ता न रखते हुये माता-पिता का मनमाने रूप से बालक-बालिका का एक सूत्र में बाँध देने का परिणाम ! क्या कोई कह सकता है कि ऐसा जीवन सदाचार-पूर्ण जीवन है ? जहाँ पति-पत्नी में परस्पर विरोध, अनिच्छा और दुःख का प्रसार है।

इस प्रकार समाज में ऐसे बहुतेरे घर हैं, जहाँ के स्थित पति-पत्नी में परस्पर अनबन रहा करती है। वह चाहे स्त्रियों के कटु व्यव-हार के कारण हो, चाहे स्त्री-पुरुष दोनों की स्वाभाविक विभिन्नता के कारण, किन्तु जब स्त्री-पुरुष का जीवन इस प्रकार असंतोष-जनक हो जाता है तो वह घर का पतित-जीवन कहलाता है। इस जीवन में किसी को सुख नहीं होता। दोनों दुःखी रहते हैं

और समाज में उनके समीप निन्दा का प्रसार रहता है। आमोद-प्रमोद, सुख-स्वातंत्र्य उसके समीप नहीं बसते। वह सर्वदा बात पड़ने पर कह दिया करता है—हम साहब गृहस्थ आदमी हैं, हमारी और बात है।

क्या वास्तव में गृहस्थ-जीवन और उनके घरों की अवस्था इतनी दीन-हीन है ? कदापि नहीं। यह सब प्रपंच है। यह दीन-हीन दशा उसका प्राकृतिक रूप नहीं है। इसके तो दो कारण हैं। एक तो स्त्री-पुरुष का, पति-पत्नी रूप में निर्वाचन की असावधानी, दूसरा कारण पुरुष-जाति का आडम्बर है। यही दोनों कारण समाज में बहुत बृहद् रूप से उपस्थित हैं। इसी-लिये यहाँ का गार्हस्थिक जीवन दुखद-पूर्ण है। जिसे अनाचार-पूर्ण जीवन कहा जायगा।

यदि इसको सदाचार का रूप दे सकते हैं, तो वे वही हैं, जिन्हें रूढ़ि का गुलाम और ढोंग का उपासक कहा जाता है, जो सिद्धान्तों की मीमांसा से परे रह कर केवल अन्ध-भक्ति पर चल रहे हैं। जिनको सदाचार के सच्चे चित्र का दर्शन भी नहीं हुआ है, जो विषमता को बढ़ाना जानते हैं, उसका परिष्कार करना नहीं। अतः विषमता की वृद्धि करने वाला विचार अपनी

इस थोथी भीत पर सदाचार की दीवार नहीं खड़ी कर सकता। सदाचार-मय जीवन वहाँ है ! जहाँ शान्ति, प्रेम, एकता और संलग्नता का निवास है। जहाँ विषमता और कलह है, उस गृह का जीवन अनाचार-पूर्ण है, जिनकी अंतरात्मा में बुरे-बुरे विचार स्थान पा रहे हैं, वहाँ पति-पत्नी का सम्बन्ध-विच्छेद होकर मनुष्यता को धारण करने के लिये अपने-अपने मनोनुकूल पति-पत्नी का चुनना ही श्रेष्ठ है।

विधवा-विवाह

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या संतानस्य परिचक्षये ॥

मनु० ९—५९

"जो अधिकार (रिआयत) विधुर को है, वही विधवा को होनी चाहिये, अन्यथा यह विधवा पर बलात्कार करना है। और बलात्कार हिंसा है, जिसका परिणाम बुरा ही होता है। जो प्रश्न विधवा के लिये किये जाते हैं, वे विधुर के लिये उठते ही नहीं हैं। इसक कारण तो यही है कि स्त्रियों के लिये पुरुष ने क़ानून बनाये हैं। यदि क़ानून बनाने का कार्य स्त्रियों के ज़िम्मे होता, तो स्त्री कभी अपना अधिकार पुरुष से कम नहीं रखती।"

—महात्मा गांधी

भारत में विधवा-विवाह की समस्या पहले की भाँति अब जटिल नहीं रह गई है। बहुतेरे भारतीय विद्वानों ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। मनु ने भी ऊपर के श्लोक में सन्तान-हीन विधवा के लिये आज्ञा दी है कि वह

अपने 'देवर' से या अपने परिवार तथा कुल के किसी मनुष्य से अपना विधि-पूर्वक सम्बन्ध कर यथेष्ठ संतान उत्पन्न करले।

यहाँ जिस 'देवर' शब्द का जिक्र आया है, उस देवर संज्ञा का नैरुक्तिक अर्थ बता देना अच्छा ही होगा, क्योंकि 'देवर' शब्द प्रायः जिन अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ पाया जाता है, उस आधार पर संभव है किसी विधवा के परिवार में देवर न हो, जिससे उसके सामने कठिनाई की समस्या उपस्थित हो। स्वामी दयानन्द जी चतुर्थ समुल्लास में लिखते हैं:—

"देवर" शब्द का अर्थ जैसा तुम समझते हो, वैसा नहीं, देखो निरुक्त में:—

देवरः कस्माद् द्वितीयोवर उच्यते।

निरु० अ० ३—ख० १५

'देवर' उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्ण वाला हो जिससे नियोग करे उसी का नाम "देवर" है।

तलाक-समस्या में निम्न श्लोक द्वारा ये संकेत रूप से बताया जा चुका है कि:—

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत्पूनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥

मनु० ९—१७५

वह स्त्री जो पति से त्यागी गई है या विधवा है, या जिसने स्वयं अपनी इच्छा से अपने पति का परित्याग कर दूसरा पति कर लिया है। उससे जो संतान उत्पन्न होगी वह 'पौनर्भव' (दूसरी की गई शादी से उत्पन्न) संतान कहलायेगी।

तमानेन विधानेन निजो विन्देत देवरः।

मनु० ९—६९

जो अक्षत योनि स्त्री विधवा हो जाय तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है, (या निरुक्त के आधार पर जिसको वह वरण करे)।

इस तरह हमें मनुस्मृति में विधवा-विवाह के संबंध में बहुत स्पष्ट रूप से आदेश पाया जाता है।

सा चेदक्षतयोनिः स्यादूगतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥

मनु० ९—१७६

वह स्त्री यदि अक्षतयोनि है, अर्थात् अपने पूर्व विवाहे पति के गृह आई गई नहीं है तो उस स्त्री का उस पौनर्भव—दूसरे पति से शास्त्र-रीति से पुनः विवाह संस्कार होना चाहिये। या यदि पूर्व पति से विवाह संबंध होने पर संबंध-विच्छेद हो गया हो और वह यदि फिर पूर्व पति के पास लौट आवे तो उसका पुनः विवाह संस्कार होना चाहिये, इस उपर्युक्त श्लोक का यही विस्तृत आशय है।

यह तो मैं पहले ही बता चुका हूँ कि मनुस्मृति की रचना वेद के आधार पर निर्भर है। विधवा-विवाह के सम्बन्ध में वेद आज्ञा देते हैं, जिसके अनेकों प्रमाण समय-समय पर विद्वानों ने दिये हैं। जिन्हें आगे मैं उद्धृत करूँगा। श्री राज्य-रत्न मास्टर आत्माराम जी बड़ौदा ने 'वेदोदय' संख्या १, भाग ६, अक्टूबर १९३२ के अङ्क में विधवा की निरुक्ति इस प्रकार दी है। उनकी निरुक्ति के आधार पर तलाक़-समस्या में भी सहायता उपलब्ध होती है।

(क) (विधवा विधातृका भवति) धाता धारयिता, स त स्याः पोषयिता वा भर्ता, विगत इति विधवा।

धाता का अर्थ धारण तथा पोषण करने वाला भर्त्ता—पति है। विगतः चला गया है, धव—अर्थात् भरण-पोषण कर्ता-भर्ता जिसका वह विधवा कहलाती है। अथवा धारण, भरण-पोषण करने से रहित तथा, रक्षा अर्थात् अन्न-वस्त्र द्वारा उसका भरण-पोषण नहीं करता, ऐसे जीवित-पति से रहित नारी विधवा कहलाती है।

(ख) [विधवानाद्वा] सा हि भर्तृमरणेन विध्रता कम्पितेव भवति।

वह नारी निश्चय पति के मरने से क्लेश युक्त होती है, अतः उसको भी विधवा कहते हैं।

(ग) [विधवानाद्वा] सा हि भर्त्तुर भावाद् आनिरुध्यमाना तत्र तत्र विधवा त्येव।

अर्थात् वह स्त्री पति से रक्षण न मिलने के कारण परि-त्यक्त हो गई है।

(घ) [अपि वा धव इति मनुष्य नाम, तद् वियोगाद् विधवा]

मनुष्यपन से रहित अर्थात् नामर्द हो गया है, अथवा गृहस्थ-धर्म सम्बन्धी नियम को तोड़ने के कारण चरित्र पतित वा व्रत-हीन होने से (Moral fall) पतित हो गया है। उससे जो स्त्री अलग हो गई है अर्थात् ऐसे पति को स्वयं जिसने त्याग है, वह भी विधवा है।

जो विधवा से विवाह करता है उसको स्मृतिकार (Hindu lawgivers) पुनर्भू-पति कहते हैं। यह पति चाहे दुहाजु हो चाहे कुमार हो इससे कोई प्रयोजन नहीं, वह पौनर्भव कहलाता है।"

अच्छा अब वेदों की ओर चलिये, वेद क्या कहते हैं? इस सम्बन्ध में श्री गणेशदत्त जी शर्मा गौड़, अपनी "वेद में स्त्रियाँ" नामक पुस्तक के पृष्ठ संख्या १५६ पर लिखते हैं। जिसमें आपने अन्य स्मृतियों का भी सहारा लिया है:—

ॐ अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्। अन्धेन यत् तमसा प्रवृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम्॥

(अथर्व० १८।३।६)

(मृतेभ्यः) मरे हुए पतियों से (नीयमानां) दूर ली गई (जीवां युवतिं) जीवित तरुण स्त्री का (परिणीयमानां) विवाह किया हुआ (अपश्यं) देखा है। (यत्) जो (अन्धेन तमसा) गहरे अन्धकार से, शोक से (प्रावृता आसीत्) आच्छादित थी (एनां) उस (अपाची) अलग पड़ी हुई स्त्री को (प्राक्तः) उन्नतिशील (अनयम्) मैं लाया हूँ।

(१) "मरे हुए पतियों से दूर ली गई जीवित तरुण स्त्री का विवाह हुआ देखा है। यह मंत्र विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा देता है। परन्तु इसमें "युवति" शब्द विचारणीय है। प्रौढ़ा अथवा वृद्धा को पुनर्विवाह करने की आज्ञा नहीं है। विधवा-विवाह उत्तम नहीं है। मनु कहते हैं कि—

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति॥

अ० ९। ६६॥

"शास्त्रज्ञ द्विजातियों ने इसे पशुधर्म माना है। इस विधवा-विवाह का प्रचार महाराज वेणु के समय से हुआ है।" यदि विधवा स्त्रियों के विवाह को बुरा ठहराया जाय तो वर्त्तमान में

जो विधवा बनाने के कार्य, जैसे बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि हैं, उन्हें रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। प्राचीन ग्रंथों में जो विधवा-विवाह के विरोध में कुछ लिखा हुआ मिलता है, वह उस समय के लिए था जब देश में कुछ इनी-गिनी ही विधवायें थीं यदि आजकल के ज़माने में हमारे शास्त्रकार होते तो अवश्यमेव उन्हें विधवा-विवाह की आज्ञा देनी पड़ती। हम······विधवाओं की संख्या लिख आये हैं। उस पर विचार करने से हृदय थर्रा जाता है। आज हमारे देश में ३ करोड़ विधवायें बैठी हैं। विधवाओं की कैसी दुर्दशा होती है, इससे कोई भी अनजान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य उनके साथ निष्ठुरतापूर्ण व्यवहार रखता है—उन्हें घर के लोगों के तथा पड़ोसियों तक के कुवाक्य सुनने पड़ते हैं। प्रायः घर की सासुयें अपनी विधवा बहुओं से ऐसे शब्द बोल देती हैं कि उनका हृदय घायल हो जाता है। वे कह दिया करती हैं, कि "इसी डाकिन राँड़ ने मेरे लाल को खा लिया। ऐसी घर में आई। इसका मुँह काला करो। यही क्यों न मर गई।" इत्यादि वाक्य कहते कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोचतीं। इन वचनों से उस विधवा को कितना कष्ट होता होगा? इसे वही जान सकती है। छोटी-छोटी लड़कियों को

विधवा बना कर बैठा दिया है, यह किस स्मृति के आधार से ? क्या कोई इसका उत्तर दे सकता है ? यदि नहीं तो फिर बाल-विधवा-विवाह के समय पोथी पत्रे लेकर प्रमाण के लिए पन्ने उलटने का किसी को क्या अधिकार है ?

विधवाओं की इस भयानक दुर्दशा को देख कर कौन ऐसा वज्र-हृदय होगा, जिसका हृदय करुणा से न पसीजेगा ? जब कि पुरुष विधुर होने पर मरते-मरते तक दूसरा विवाह कर सकता है तो क्या कारण है कि, विधवा कन्याओं का पुनर्विवाह न किया जाय ? जिन स्त्रियों ने यौवन-काल में क़दम तक नहीं रक्खा था, उन्हें विधवा बना कर रोक रखना किस धर्मशास्त्र के अनुकूल है ? जिन नारकी माता-पिता ने अपनी दुधमुँही बच्चियों को विधवा बना कर बैठा दिया है, वे क्या कह कर विधवा-विवाह का विरोध कर सकते हैं ? समाज के इस अन्याय से गुप्त व्यभिचार बढ़ गया है—भ्रूण-हत्या के असह्य पाप से पृथ्वी डग-मगा रही है। क्या इसी का नाम धर्म है ? क्या इस अन्यायपूर्ण कार्य को करके भी हिन्दू जाति अपनी पवित्रता क़ायम रख सकेगी ?

बहुतेरी स्त्रियाँ विधवा होने पर पति के साथ चिता में

जल कर भस्म हो जाती थीं। बहुतेरी दुबारा विवाह करना बुरा समझती हैं। यह केवल व्यक्तिगत प्रेम का कारण कहा जा सकता है। इसे सामाजिक या धार्मिक आज्ञा नहीं कही जा सकती। न्याय तो यह है कि पत्नी के मरने पर जिस प्रकार पुरुष दूसरा विवाह करने में स्वतंत्र माना जाता है, वही स्वतं- त्रता स्त्रियों के लिये भी होनी चाहिए। पुरुष तो बालों पर खिज़ाब लगा कर और मुख में नकली दाँत बैठा कर भी कन्याओं का पाणि-ग्रहण कर ले और विधवा बच्चियाँ शादी करें तो धर्म की दुहाई के ढोल पीटे जायँ? यह कहाँ का न्याय है! पुरुषों ने क्या समझ रक्खा है कि, स्त्रियों को ईश्वर ने मूर्ख बनाया है, इन्हें भला बुरा और न्याय अन्याय का कुछ भी ज्ञान नहीं है? क्या वे नहीं देख रही हैं कि पुरुष अनेक विवाह कर सकते हैं, और हमें कहा जाता है कि तुम ब्रह्मचारिणी रहो, संयम से रहो? क्या कारण था कि प्राचीन काल में हमारे भारतीय बड़े बड़े तपस्वी, साधु, ऋषि लोग भी गृहस्थी बन कर रहते थे? क्या वे आजन्म संयम नहीं कर सकते थे? गई गुजरी बातों को जाने दीजिए स्त्रियाँ पूछ सकती हैं कि, आज- कल के पुरुष ही संयम से क्यों नहीं रहते? एक स्त्री के मरते ही

दूसरी को अपनी पत्नी बनाने का ढङ्ग क्यों रचा जाता है ? स्त्रियों को पुरुषों से आठ गुणा अधिक काम होता है। वे ठाली बैठी रहती हैं। न उन्हें उच्च-शिक्षा ही दी गई है, और न उनके सामने कोई उच्च-आदर्श ही है, फिर भला वे कैसे संयम से रह सकती हैं ?

भारत में स्त्रियों की संख्या १५ करोड़ ४९ लाख है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या ९० लाख अधिक है। १४ करोड़ के लगभग मनुष्य विवाहित हैं। इनमें आधे पुरुष अर्थात् ७ करोड़ पुरुष और ७ करोड़ स्त्रियाँ हैं। एक करोड़ से अधिक पुरुष रंडुए हैं और लगभग ३ करोड़ विधवाएँ हैं। पुरुष कम रंडुए हैं और स्त्रियाँ अधिक राड़ें हैं। इनमें से १५ हज़ार तो पाँच वर्ष से भी कम उम्र की बालिकाएँ विधवा हैं। एक लाख से अधिक लड़कियाँ ऐसी विधवाएँ हैं, जो ५ से १० वर्ष की उम्र में हैं !! चार लाख विधवाएँ अभी १५ वर्ष की उम्र से भी कम की हैं !!! इन सब संख्याओं से हमें अपनी दुर्दशा का बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। ज़रा हृदय को थाम कर इसे भी पढ़ लीजिए कि तीन करोड़ विधवायें लगभग ५० लाख बच्चे या तो अधूरा गर्भ गिरा कर या होते ही गला घोटकर गुप्त व्यभिचार

के कारण मार डाले जाते हैं! कैसा हृदय विदारक दृश्य है? हिन्दुओं ने धर्म के नाम पर, यह पाप का वृक्ष अपने घर में ही लगा रक्खा है। लानतें सहते हैं, इज़्ज़त किरकिरी कराते हैं, नाक कटवाते हैं, पाप पल्ले बाँधते हैं परन्तु विधवाओं के साथ दयालुता और उदारता का व्यवहार स्वप्न में भी नहीं करना चाहते। वेद कहता है कि विधवा का विवाह किया जा सकता है। यदि वेदाज्ञानुसार विधवाओं का विवाह कर दिया जाय तो, हिन्दुओं ने जिन स्त्रियों को बट्टे-खाते की रकम की तरह बैठा दिया है, उन २ करोड़ विधवाओं का कष्ट मिट सकता है। साथ ही स्त्री-हीन पुरुष जो व्यभिचार में गुप्त रूप से अपना जीवन बरबाद कर रहे हैं, गृहस्थी बनकर अपने जीवन को पवित्र कर सकते हैं।

जो स्त्रियाँ विधवा होकर भी ब्रह्मचर्य्य से रहना चाहें, वे धन्य हैं—उन्हें विवाह करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जो ब्रह्मचर्य्य पालन नहीं कर सकतीं, उन्हें अवश्य दूसरा विवाह कर लेना चाहिये। गुप्त व्यभिचार भयानक पाप है—इससे तो किसी के साथ विवाह कर लेना ही अच्छा है। ऋग्वेद मं० १० सू० १८ मं० ८ में लिखा है:—

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप-शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्ज-नित्वमभिसं बभूथ॥

अर्थात्—"हे स्त्री! इस मृत पति की आशा छोड़। जीवित पुरुषों में से दूसरा प्राप्त कर और समझ ले कि इस पुनः पाणिग्रहण करने वाले पति द्वारा जो पुत्र होगा, वह तेरा और इस पुरुष का कहलायेगा"। इस मन्त्र से यह सिद्ध होता है कि जिस स्त्री के सन्तान न हो सकी हो, और उसका पति मर गया हो, उसे पुनर्विवाह करने की आज्ञा है। अर्थात् पुन-र्विवाह संतान के लिए करना चाहिए, व्यभिचार के लिए नहीं। व्यभिचारार्थ पुनर्विवाह निंद्य कार्य है। यदि १६ वर्ष की उम्र स्त्री के विवाह की समझी जाय, तो उसके २०। २२ वर्ष की उम्र में सन्तान हो जानी चाहिए और इसी बीच में यदि वह विधवा हो गई हो तो अपत्योत्पादनार्थ दूसरा विवाह कर सकती है। तात्पर्य यह है कि २५-३० वर्ष तक की उम्र में विधवा होने वाली स्त्री, जिसके संतान पैदा न हुई हो,—दूसरा विवाह कर सकती है, ऐसा वेद कहता है।

यहाँ यह देखना कि विवाह के लिए स्मृतिकारों के क्या विचार हैं? याज्ञवल्क्य कहते हैं:—

अक्षताश्चक्षताश्चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः।
स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णकामतः श्रयेत्॥

अर्थात्—अक्षतयोनि विधवा का पुनर्विवाह करना चाहिए जो विधवा बिना संस्कार के दूसरे को अपना पति बनाती है, वह स्वैरिणी है। व्याघ्रपाद के वचन देखिए—

पत्निनाशे यथा पुंसो भर्तृनाशे तथा स्त्रियः।
पुनर्विवाहः कर्त्तव्यः कलावपि युगे तथा॥

अर्थात्—कलियुग में स्त्री के मर जाने के बाद जैसे पुरुष पुनर्विवाह कर लेते हैं; उसी प्रकार पुरुष के मरने पर स्त्री को भी पुनर्विवाह कर लेना चाहिए। वैशंपायन ने कहा है:—

पुरुषाणामिव स्त्रीणां विवाहा बाहवो मताः।
भर्तृनाशे पुनः स्त्रीणां पुंसां पत्नीलये यथा॥

अर्थात्—पुरुषों के मरने पर स्त्रियों के अनेक विवाह हो सकते हैं। जैसे स्त्री के मर जाने पर पुरुष दूसरा विवाह कर

सकता है, वैसे ही स्त्री भी पुरुष के मरने पर पुनर्विवाह कर सकती है। जाबालि की सम्मति है कि:—

ब्राह्मणाःक्षत्रियाः वैश्याःशूद्राःस्वकुलयोषिताम्।
पुनर्विवाहं कुर्वीरन्नन्यथा पाप संभवः॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की विधवा स्त्रियों का पुनर्विवाह कर देना चाहिए, नहीं तो पाप होने की संभावना है। महर्षि अगस्त्य जी आज्ञा देते हैं:—

भर्त्रभावे वयःस्त्रीणां पुनः परिणयो मतः।
न तत्र पापं नारीणामन्यथा तद्गतिर्नहि॥

अर्थ—पति के मर जाने पर युवती स्त्रियों का विवाह दूसरे पुरुष के साथ कर देना चाहिये। इसमें कोई पाप नहीं है। स्त्रियों के लिये सिवाय इसके कोई उपाय ही नहीं है। पाराशर ने कहा है कि:—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणांपतिरन्यो विधीयते॥

अर्थात्—पति के ला पता हो जाने पर, मर जाने पर,

संन्यासी हो जाने पर, नपुंसक मालूम होने पर, और मुसलमान या ईसाई बन जाने पर, स्त्रियों को दूसरा विवाह कर लेना चाहिये।

ये केवल प्रमाण ही प्रमाण नहीं हैं; बल्कि हिन्दू-इतिहास में सैकड़ों उदाहरण भी हैं। महाभारत और रामायण के पाठकों को ऐसे अनेक उदाहरण मिले होंगे जिनमें शास्त्रों के उपरोक्त वचनों का पालन किया गया हो। तात्पर्य यह है कि "विवाह संस्कार संतान पैदा करने के लिये किया जाता है। यदि इस उद्देश्य में किसी प्रकार की बाधा हो तो उसे हटाना चाहिए। संतान अवश्य पैदा करनी चाहिये। यदि संतान पैदा होने के पूर्व ही स्त्री या पुरुष दोनों में से कोई एक मर जाय, तो फिर वह संतान पैदा करने के लिए पुनर्विवाह कर ले तो कोई हानि नहीं"। यही इच्छा हमारे शास्त्रों की है। अब विधवा-विवाह विषयक अथर्ववेद के इन मंत्रों पर भी विचार कीजिये।

> या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दते परम्।
> पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वियोषतः॥
>
> ९।५।२७॥

समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥

९।५।२८॥

अर्थ—जो स्त्री पहिले पति को पाकर उसके बाद दूसरे को प्राप्त होती है। वे दोनों निश्चय ही ईश्वर को समर्पण करें। वे दोनों अलग न हों। दूसरा पति दूसरी बार विवाहित स्त्री के साथ एक स्थान वाला होता है जो परमात्मा को समर्पण करता है।

इसी प्रकार के मंत्र वेद में अनेक स्थान पर आये हैं हमने यहाँ पर उन्हीं मंत्रों को लिखा है, जो सहज ही समझ में आ जाने वाले हैं। अथर्ववेद काण्ड १८ सूक्त ३ के मंत्र १, २, ३, और ४ इसी सम्बन्ध में अधिक विचारणीय हैं। ऋग्वेद मण्डल दसवाँ सूक्त १८ और मंत्र ८ और १८, तथा मं० १० सूक्त ४० मंत्र दो भी हमारे विषय के पोषक हैं। तैत्तिरीय आरण्यक ६—१—१४ में भी विधवा-विवाह के पक्ष में लिखा हुआ है। स्त्रियों को उचित है कि वे स्वयं अपने कर्तव्य का निर्णय करें। यह विषय एक ऐसा महत्त्वपूर्ण तथा जटिल है कि जिस पर

हम अपनी ओर से बहनों को कुछ कहना ठीक नहीं समझते। हमने वेद के मंत्रों तुम्हारे विचार के लिये उपस्थित कर दिया है, इन पर विचार करो और अपनी उन्नति करो।

मनुस्मृति अ० ९—६६ के जिस श्लोक के सम्बन्ध में गौड़ जी ने कुछ पंक्तियाँ लिखने का कष्ट उठाया है, उस श्लोक के सम्बन्ध में सामवेद भाष्यकार श्री पं० तुलसीराम जी स्वामी अपनी मनुस्मृति भाष्य में लिखते हैं:—

"पुराने भाष्यकार मेधातिथि ने 'द्विजैर्हिविद्वभिः' के स्थान में 'द्विजैरऽविद्वद्भिः" पाठ माना है, और यह भाष्य किया है कि 'येऽविद्वांसः सम्यक् शास्त्रं न जानन्ति' शास्त्र के न जानने वालों ने पशु-धर्म और निन्दित कहना आरम्भ कर दिया।"

इस तरह हम देखते हैं कि पुरुषों की कुत्सित मनोवृत्ति ने समाज के मनुष्यों के विचारों पर ही हाथ नहीं साफ़ किया है, वरन् ऋषि मुनि रचित स्मृतियों पर भी अपने विचारों की छाप रखने की चेष्टा की है। यही कारण है, आज हमारा भारत सत्यानाश हो रहा है। इन बेचारी विधवाओं की संख्या और अवस्था देख कर मेरी आत्मा तो काँप उठती है। भारत में ईसाई, मुसलमानों की वृद्धि हमारी इस कुत्सित मनोवृत्ति का

एक ज्वलन्त उदाहरण है। प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए० अपनी "विधवायें और देश का नाश" नामक ट्रैक्ट में लिखते हैं:—

"यों तो हिन्दू जाति के पतन तथा नाश के बहुत से कारण हैं। परन्तु विधवाओं की वृद्धि भी मुख्य कारणों में से एक है। जितनी विधवायें हिन्दू जाति में मिलती हैं उतनी किसी अन्य जाति में नहीं मिलतीं। 'अलङ्कार' पत्र ने लिखा है कि १९२१ ई० की भारत-गणना के अनुसार हमारे देश में पाँच वर्षों से कम आयु की ११८९२ हिन्दू विधवायें हैं:—

आयु	संख्या
०—१	५९७
१—२	४९४
२—३	१२५७
३—४	१९३७
४—५	६७०७
कुल	११८९२

५—१०	८५०३७
१०—१५	२३२१४७
१५—२०	३९६१७२
२०—२५	७४२८२०
२५—३०	११६३७२०
कुल	२६१९८९६

छब्बीस लाख इकतीस हज़ार, सात सौ अट्ठासी विधवाओं का होना प्रकट करता है कि भारत महासङ्कट में है। पाठकगण! ज़रा विचारो तो सही कि छब्बीस लाख विधवाओं का क्या अर्थ है। अगर तुम एक गाँव में रहते हो जिसकी आबादी १००० के लगभग है तो सर्व विधवाओं से २६३१ गाँव भरेंगे। यदि तुम छोटे नगर में रहते हो जिसकी आबादी बीस हज़ार है तो समझ लीजिये कि यदि तुम्हारे जैसे बड़े नगर भरे जायँ तो ऐसे १३२२ नगर भर जायँगे। यदि प्रयाग जैसे नगर भरे जायं जिनकी डेढ़ लाख आबादी है तो अठारह नगर चाहिये और यदि बम्बई जैसे नगर बसाये जायं तो इतनी विधवायें भारतवर्ष में हैं जिनसे दो बम्बई बस सकते हैं। कोई ठीक है? एक हों,

दो हों, सौ हों, हजार हों! छब्बीस लाख। हा दैव! कैसी दुर्गति है? एक विधवा की हाय कई घरों को भस्म करने को पर्याप्त है। २६ लाख विधवाओं के जलते हुये हृदयों से निकला हुआ 'हाहाकार' का धुआँ भारतवर्ष की कैसी दुर्गति कर रहा है। इसको सोचकर रोंगटे खड़े होते हैं। जिस देश में एक वर्ष से कम आयु की ५९७ विधवायें हों जिनके मुँह में दाँत नहीं निकले, जिनका माँ का दूध पीना अभी नहीं छूटा इस देश के भविष्य और वर्तमान के लिये हम क्या कहें। जिस देश में पाँच वर्ष से कम आयु की ११८९२ ऐसी लड़कियाँ हों जो धोती नहीं पहन सकतीं, भली प्रकार बात नहीं कर सकतीं, परन्तु रंडापा जिनकी पीठ पर सवार है उनके विषय में सोचना तक मुश्किल है। "कहते हैं कि कानी आँख से लाभ तो कुछ नहीं परन्तु जब दुखने आ जाय तो पीड़ा देती है। परन्तु विधवायें वह कानी आँख हैं जो नित्य दुखती रहती हैं।" इतनी विधवायें क्यों हैं?

(१) माँ बाप को लड़की पैदा होते ही विवाह की सूझती है। वह आँख बन्द करके विवाह कर देते हैं। "जैसे बने मेरी लड़की के पीले हाथ हो जायँ।" यह इच्छा विधवाओं की

संख्या नित्य प्रति बढ़ा रही है। सभी जानते हैं कि बचपन में रोग और मौत बहुत सताते हैं। कोई चेचक से मर जाता है किसी को पसली की बीमारी खा जाती है। भारतवर्ष में आधे के लगभग बच्चे छोटी ही आयु में मर जाते हैं और वह अपने माँ बाप की मूर्खता के कारण अपनी विधवाओं को छोड़ जाते हैं।

(२) दूसरा कारण यह है कि विधवाओं का विवाह नहीं किया जाता। जो छोटे लड़के रँडुवा होते हैं उनका झट विवाह हो जाता है। हमने ऐसे बीस-बीस वर्ष के लड़के देखे जिनके तीन तीन विवाह हो गये हैं। विधवायें तीन प्रकार की हैं:—

(१) पहली वह जो अपने पति की स्मृति के सहारे आयु भर ब्रह्माचारिणी रह कर जीवन बिताती हैं। ऐसी विधवायें बहुत कम हैं। जो हैं वह हमारे सत्कार और मान के योग्य हैं क्योंकि वह वीरता-पूर्वक धर्म का जीवन व्यतीत कर रही हैं। परन्तु शोक है कि हिन्दू जाति इनका मान नहीं करती। शुभ अवसरों पर शादी विवाहों में उनके आने की भी आज्ञा नहीं दी जाती। जिस देश में सती स्त्रियों का मान न हो वहाँ कुलटा और व्यभिचारिणी स्त्रियों का ही मान होगा। शोक है कि विवाहों पर व्यभिचारिणी रण्डियों का मान हो, उनको नाच

में बुलाया जाय और धर्मात्मा विधवाओं का तिरस्कार हो।

(२) दूसरी विधवायें वह हैं जो साधारण हैं। यह न बुरी है, न भली। यदि समाज की दशा अच्छी हो तो यह ठीक रह सकती हैं। परन्तु हिन्दू जाति का यह हाल है कि साठ वर्ष का बूढ़ा बाप या ससुर तो पाँच-पाँच विवाह कर सकता है और उसकी बारह वर्ष की बेटी या पतोहू जो विधवा हो गई है विवाह नहीं कर सकती। उसको लोग कहते हैं "ब्रह्मचारिणी रह।" आँख के अन्धो! जब तुम बुड्ढे ब्रह्मचारी नहीं रह सकते तो तुम्हारा क्या अधिकार है कि युवती स्त्रियों को बलात्कार ब्रह्मचारिणी रहने पर बाधित करो।

(३) तीसरी वह विधवायें हैं जो किसी प्रकार इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकतीं। इनकी संख्या भी कम नहीं है, पाठकगण! जानते हो कि यह क्या करती हैं? बड़े बड़े घरों की बहू बेटियाँ प्रत्येक नगर के बाजारों में सेठों की दूकानों के सिर वेश्यायें बनी बैठी हुई हैं और लाला जी तथा बाबू जी के मुँह पर रोज कालिख लगाया करती हैं। जब कोई विधवा भाग जाती है तो हमारे बड़ी नाक वाले सेठ जी प्रसिद्ध कर देते हैं 'मर गई' अजी महाराज! वह नहीं मरी। वह तो जब मरेगी

जब समस्त जाति मर जायगी। हाँ, आप के मरने में सन्देह नहीं रहा। आज सैकड़ों विधवायें रोज ईसाई, मुसलमान हो जाती हैं। परन्तु हिंदुओं के माथे पर जूं तक नहीं रेंगती। वह कह देते हैं कि जो 'जैसा करेगा वैसा भरेगा, परन्तु यह करतूत तो आपकी है। जब आप करते हैं तो आप ही भरेगें। आजकल विधवाओं के कारण हिन्दू जाति का बहुत बड़ा नाश हो रहा है। इसका इलाज यही है कि:—

(१) जो बाल-विधवा-विवाह करना चाहे उसका झट विवाह कर दो

(२) ऐसा विवाह करने वालों का न तो अनादर करो और न उनको अपमान की दृष्टि से देखो। जब आठ-आठ विवाह करने वाले बूढ़ों का अनादर नहीं होता तो पुनर्विवाह करने वाली स्त्रियों का क्यों हो?

बहुत से लोग कहते हैं कि विधवा-विवाह शास्त्र-विरुद्ध है। हम यहाँ शास्त्रों के प्रमाण नहीं देते हमने अपनी विधवा-विवाह-मीमांसा नामी पुस्तक में इस पर पूरा विचार किया है और वेदों स्मृतियों, पुराण तथा अन्य पुस्तकों से सिद्ध

किया है कि बाल-विधवा-विवाह पहले भी होता था और अब भी होना चाहिये।

परन्तु हम यह पूछना चाहते हैं कि जब तुम्हारी भूल के कारण सब देश ईसाई या मुसलमान हो जायगा तो तुम्हारे शास्त्रों को कौन पूछेगा? तुम अपनी स्मृतियों को चाटते ही रह जाओगे और तुम्हारी बहू बेटियों को ईसाई मुसलमान ले जायँगे जैसा कि वह आजकल ले जा रहे हैं। तुम तो यह कह कर टाल देते हो कि विधवा-विवाह हमारे शास्त्र के विरुद्ध है। क्या सर्वनाश तुम्हारे शास्त्र के अनुकूल है? क्या तुम्हारे शास्त्र में यही लिखा है कि चाहे समस्त जाति धर्मच्युत हो जाय, चाहे किसी के सिर पर चोटी और कन्धे पर जनेऊ न रहे, चाहे विधवायें रोज वैश्यायें बनें, चाहे व्यभिचार बढ़ता ही जाय, चाहे गर्भपात नित्य हुआ करे तुम अपनी हठ किये ही जाओगे? याद रक्खो कि विधवाओं के विवाह में रुकावट डालना अपने देश और अपनी जाति के डूबने के लिये कुँआ खोदना है। ईश्वर तुमको बुद्धि दे, तुम्हारी आँखे खुलें और तुम विधवाओं की दशा सुधारने में लगो।

अन्तर्जातीय-विवाह

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशःस्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥

मनु० ३—१३

"किसी भी काम को 'मैं नहीं कर सकता' ऐसा कभी मत कहो, कठिन से कठिन काम को 'मैं कर सकता हूँ' ऐसा कहो, ऐसा ही मानो और ऐसा ही करो। बस, इसी एक उपाय से तुम उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाओगे।"

—देशभक्त मैजिनी

आज जिस विषय पर मेरी लेखिनी उठने जा रही है, उसका स्थान, भारतीय समाज की मनोवृत्ति के बहुत ही प्रतिकूल हिस्से में है। जिसके कारण हमारा विचार, हमारी धारणा, हमारा प्रयत्न और हमारे अन्तस्थित उद्देश्य के साथ

साथ हमारे सच्चे प्रेम और सच्ची श्रद्धा तथा सच्ची तत्परता का सर्वनाश हो जाता है। हम जानते हैं, लोग उसे अधर्म कह देते हैं, अन्य जाति की स्त्री और अन्य जाति के पुरुष, जिस गृह में पति-पत्नी के भाव से रहते हैं, लोग उस गृह का बहिष्कार कर देते हैं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति उन पवित्र दम्पतियों को घृणा की दृष्टि से देखता है, उनके प्रति उपेक्षणीय मनोवृत्ति रखता है, यदि कोई शिष्ट एवं शीलवान् हृदय उनको उनकी इस दुष्ट मनोवृत्ति का परित्याग करने का आदेश करता है तो वे शास्त्रकारों की दुहाई देकर भयानक ताण्डव गर्जना कर उठते हैं, साथ ही उस दंपति के साथ और भी बुरे-बुरे व्यवहार करने का दुष्प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। माता-पिता और परिवार तो उनका कभी का बहिष्कार कर चुके होते हैं। इस प्रकार उन स्त्री-पुरुषों का जीवन समाज के इन कतिपय मनुष्यों की कलुषित मनोवृत्ति से दुःखित होकर अन्य समाज का आश्रय ग्रहण कर जाता है, जहाँ उनकी आवभगति होती है। जहाँ उनको ससम्मान समाज में स्थान मिलता है। इस प्रकार ऐसे कितने ही दंपति इस समाज की इस कलुषित मनोवृत्ति के प्रति घृणा प्रकट करते हुए, इस समाज को ठोकर

लगा कर इसे कोसते हुए अन्य समाज के आश्रित हुये हैं। जिससे हिन्दू जाति का और उस हिन्दू जाति का, जो अपने को आर्य कह कर दुनिया में सबसे बड़ी (श्रेष्ठ) होने का डंका पीटती रही है, जो अपनी उन्नति को धर्म और अवनति को अधर्म मानती रही है, दिन-दिन उसका पतन होता जा रहा है। जिनकी संख्या ३३ करोड़ से घट कर अब २३ करोड़ ही रह गई है यदि यही दशा रही तो इसमें किंचित् संदेह नहीं कि कुछ वर्षों में ही भारतीय मृत्यु की गोद में आनन्द से शयन करते हुये दिखाई देंगे।

यदि हम इसे मान भी लें कि शास्त्रकारों ने इसे अधर्म माना है तो इससे हमारी कोई मर्यादा नहीं घटी जाती। परन्तु क्या अवस्था भेदों को दृष्टि में रखते हुए भी शास्त्रकारों ने इसे निषिद्ध ठहराया है? शास्त्रकारों के अधर्म कह देने का यह प्रयोजन नहीं कि किसी भी अवस्था विशेष में वह धर्म न माना जाय? वे तो स्पष्ट आज्ञा देते हैं। जिनकी आँखों से न सूझ पड़ता हो वे ऊपर दिये गये मनु के श्लोक का अर्थ करके तथा अपने ललाटों पर हाथ रख कर खूब सोचें और विचार करें। यही नहीं वे आगे लिखते हैं:—

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥

मनु० २—२४०

स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, शुद्धि उत्तम वचन और विविध प्रकार की शिल्प कला ये सब जहाँ मिले वहीं से उनका संग्रह करना चाहिये।

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीता वरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्री रत्नं दुष्कुलादपि ॥

मनु० २—२३८

श्रद्धावान् पुरुष नीच से भी अच्छी विद्या ले ले, चाण्डाल से भी परम-धर्म (मोक्षोपाय) और नीच कुल से भी स्त्री-रत्न ग्रहण करे।

परन्तु अफ़सोस! शास्त्रकारों की इन सम्मतियों के होते हुए भी हमारा समाज आज अन्धा है। इसको संकीर्ण मनोवृत्ति इसको रसातल की ओर लिये जा रही है। देश में इस संकीर्ण मनोवृत्ति के होने के कारण नित्य-प्रति भ्रूण-हत्यायें हो रही हैं, और समाज फिर भी अपने नेत्रों के आगे पड़े हुए पर्दे को नहीं हटाता।

इस बीसवीं सदी में जब कि हमारे देश पर दूसरे का शासन चल रहा है, हम पराधीन और पंगु हैं, हमारी निर्माण की गई शिक्षा-विधि तथा सामाजिक व्यवस्था जिनके मेल के कारण असफल हो रही है, उसको ध्यान में रखते हुए, हमको चाहिये कि हम अपनी सामाजिक व्यवस्था पद्धति को दूसरे ही रूप में बदल दें। लकीर को पीटते ही जाना, धार्मिक जीवन नहीं, न धर्म इसकी आज्ञा देता है। जिस आधार पर हमारी उन्नति हो, जिस प्रवृत्ति के अनुकरण से हमारा सामाजिक-जीवन चिरकाल तक स्थिर रह सके, हमें उन्हीं उपायों का उपयोग करना चाहिये। समय के अनुकूल बनाये गये उपाय ही ऐसी अवस्था के लिये धर्म हो जाते हैं। इसलिये कि ऐसी अवस्था में वे ही समाज को उन्नति की ओर ले चलने में सहायक होते हैं।

मनु कहते हैं।

शरः क्षत्रिया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्य कन्यया।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्ट वेदने॥

मनु० ३—४४

उत्तम वर्ण का पुरुष, हीन-वर्ण की कन्या से विवाह करे तो क्षत्रिय कन्या को बाण का एक सिरा और वैश्य की कन्या को सोंटे का एक सिरा और शूद्र की कन्या को कपड़े का एक सिरा पकड़ना चाहिये।

यह है, हमारे प्राचीन ऋषियों की अन्तर्जातीय-विवाह के सम्बन्ध में उपलब्ध सम्मति! जिसके आधार पर यह सिद्ध होता है कि हमारे प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में इस विषय पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, यही कारण है कि हमारे सुदूरवर्ती भारतीय इतिहास में इस सम्बन्ध में अनेकों प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जहाँ उन छोटे लोगों की कोई चर्चा ही नहीं, अपितु जिनकी गणना समाज के प्रमुख व्यक्तियों में है, यही नहीं प्रत्युत बड़े बड़े राजा-महाराजाओं, ऋषियों-मुनियों और विद्वान् पंडितों ने अन्तर्जातीय-विवाह कर संसार के लिये एक उदाहरण छोड़ गये हैं, इस विचार की पुष्टि के लिये हमें महाभारत, रामायण और पुराणों में अनेकों प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जैसे:—वशिष्ठ एक वेश्या के पुत्र थे। इनकी स्त्री अक्षमाला किसी हीन (छोटे) जाति की कन्या थी। इस सम्बन्ध में हमें मनुस्मृति में ही प्रमाण उपलब्ध है:—

अक्षमाला वशिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।
शारंगी मन्दपालेन जगामाभ्यार्हणीयताम् ॥

मनु० ९—२३

नीच योनियों में जन्म लेने वाली अक्षमाला वशिष्ठ से और शारङ्गी मन्दपाल मुनि से विवाह-सूत्र में बंधने के कारण परम-पूज्यता को प्राप्त हुई ।

पद्मपुराण अ० १६ श्लोक १६५—१६७ में लिखा है कि ब्रह्मा ने स्वयं एक (गोप) अहीर जाति की कन्या को अपनी स्त्री बनाया था । वाल्मीकि रामायण बाल-काण्ड सर्ग ३१ श्लोक २—१० में लिखा है कि कुश नामक क्षत्रिय राजा थे, जिनकी रानी का नाम वैदर्भी था, जिससे ४ पुत्र उत्पन्न हुये, उनमें कुशनाभ ने घृताची अप्सरा (वेश्या) से शादी की जिसकी ३२ कन्यायें ब्रह्मदत्त को व्याही गईं, यह ब्रह्मदत्त चूली नामक ब्रह्मर्षि का पुत्र था । इस तरह हम अगस्त्य, गोतम, सत्यकाम मातंग, कवश एलूष, ययाति, कौशिक इन्द्र, शुक्राचार्य, जमदग्नि, कात्यायन, अत्रि, शौनक, च्यवन, एतरिय उतथ्य, भृगु, अश्विनीकुमार, पृषध्र, करूष, नाभाग, धृष्ट,

रथीतर, हरीत, शौनक, कण्व, शकुन्तला, विदुर, धृतराष्ट्र, पांडु, काशीवान् आदि बहुतेरों का अन्तर्जातीय-विवाह संबंध से उत्पत्ति होने का प्रमाण उपलब्ध करते हैं। साहित्य का अध्ययन करने वाले यह जानते हैं कि जगत् प्रसिद्ध राम की सगी बहन (दशरथ की पुत्री शान्ता) शृंगी ऋषि को व्याही थी। राजा शान्तनु ने मल्लाह की लड़की सत्यवती से शादी की थी। इसी सत्यवती ने इसके पहले पाराशर ऋषि से विवाह किया था। जिसके संयोग से वेद-व्यास की उत्पत्ति हुई थी। अतः क्या हम पूछ सकते हैं कि इन लोगों को भारतीयों ने कभी जाति से बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया था?

'धर्म' को किसी भी सीमित दायरे में बन्द रखने—रूढ़ि का रूप देने—से समाज में उसके प्रति घृणा का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है, जिसका विकास होते फिर देर नहीं लगती? विकसित और संगठित शक्ति ने रूस जैसे दृढ़ और प्रौढ़ राज्य में परिवर्तन कर दिया, जिसके विषय में हम रोज ही पढ़ते हैं। रूढ़ियों का संहार होकर वहाँ धर्म (कर्तव्य) की सच्ची व्यवस्था का पुनर्निर्माण हुआ है। जिसे पढ़कर हमारे भारतीयों की आत्माएँ प्रसन्न हो उठती हैं और जिसे मैं वर्तमान समय

के योग्य-और भारतीय धर्म-शास्त्रों में पदे पदे किये गये संकेतों के अनुकूल मानता हूँ। परिशिष्ट भाग में उन नये निर्धारित नियमों और भारतीय धर्म-शास्त्रों के विचारों का तुलनात्मक उद्धरण दूँगा।

जिस भ्रूण-हत्या की ओर मैं ऊपर संकेत कर चुका हूँ, और जिस भ्रूण-हत्या के कारण का संकेत रूप से मैं दाम्पत्य-जीवन में उल्लेख कर आया हूँ, जिसमें अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्ध की बात बताई गई है। जहाँ, इच्छित वर और इच्छित कन्या दोनों आपस में प्रेम करने लगते हैं, परन्तु समाज के डर से विवाह सूत्र में नहीं बंधते उनके उस परस्पर के प्रेम का प्रकृति-स्वभाव से परिणाम तो कुछ होना ही है। उसी भ्रूण-हत्या का मर्मस्पर्शी दृश्य (श्री डा० विहारी लाल, बालाघाट सी० पी० का : आत्म-कथन जो "भ्रूण-हत्या प्रतिबन्ध-गृह" के संस्थापक हैं) नीचे दिये गये उद्धरण में खींचा गया है। रूढ़ियों के गुलाम और लकीर के फ़कीर महानुभाव क्या इसे पढ़कर भी अपने हृदय की कठोरता को पूर्ववत् बनाये रहेंगे? क्या वे अन्तर्जातीय-विवाह संबंध पर अब तक चले आये हुये कठोर कानून का उसी प्रकार उपयोग करते रहेंगे? यद्यपि

पूर्वकाल में ऐसा कठोर प्रतिबंध इस विषय में न था, यह तो ऊपर दिये गये अनेकों उद्धरणों, जिनमें विभिन्न जाति की स्त्रियों के गर्भ से उत्पन्न ऋषियों की चर्चा की गई है, स्पष्ट हो रहा है। अतः इस वर्तमान-काल में जब कि आवश्यकता प्रतीत हो रही है, क्या उसी पद्धति का प्रचलन कर समाज इस भ्रूण-हत्या जैसे कृत्य की अन्त्येष्टि करना स्वीकार न करेगी ?

"वह १९२७ की शरद पौर्णिमा की निर्मल रात थी। हम कतिपय मित्र मैदान में बैठे हुए विविध विषयों पर वाद-विवाद कर रहे थे। प्रसंगवश सामाजिक कुरीतियों में जकड़ी हुई स्त्रियों का भी जिक्र छिड़ गया। किस प्रकार वे विशेष कर अपने कहलाने वाले नर-राक्षसों के चंगुल में फँस-जाती हैं। किस प्रकार इसका भयंकर परिणाम होने पर वे अभागिनियाँ घर से ही नहीं, हिन्दू समाज से सदा के लिए दूध की मक्खी की तरह निकाल बाहर की जाती हैं। किस प्रकार उनकी दुर्दशा होती है। किस प्रकार वे कलंकित-जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर की जाती हैं, आदि बातों पर हमारी मित्र-मंडली में विचार किया गया। एक ओर तो हमारी नन्हीं-नन्हीं बालिकाओं तथा युवती विधवाओं को आजन्म ब्रह्मचारिणी रखने का प्रयत्न किया

जाता है और दूसरी ओर उनके चारों तरफ ऐसा विलासमय वातावरण उपस्थित किया जाता है जिससे वे प्रयत्न करने पर भी अपने को पवित्र नहीं रख सकतीं। एक ओर तो उन अभागिनियों को भादों की अँधेरी और डरावनी रात में, बिजली तड़फते में, पानी बरसते में, पूष की कँपकँपी पैदा करने वाली लंबी रात में, बैसाख जेठ के निर्मल चाँद के प्रकाश में भी तंग, गन्दी और अँधेरी कोठरियों में बन्द किया जाता है। दूसरी ओर उनके अत्यंत निकट उनके मन को चंचल करने वाले कृत्य किए जाते हैं। उन विलासी कृत्यों से उन बहिनों के अबोध, निर्मल किन्तु निर्बल चित्त पर पतनकारी परिणाम पड़ता है। फल यह होता है कि वे डाँवा-डोल होकर पतन की ओर आकृष्ट हो जाती हैं। आश्रिता और अबला होने के कारण वे "अपने" कहलाने वालों के बल-पूर्वक किए गए अनुचित से अनुचित प्रस्तावों को भी अस्वीकृत नहीं कर सकतीं। गुप्त पाप में फँस जातीं और गर्भवती हो जाती हैं। फिर वे गर्भ को गिराने का पापमय और मूर्खता-पूर्ण प्रयत्न करती हैं। गर्भ गिराने में पकड़े जाने पर वे कानूनी-दंड भी पाती हैं और जन्म भर के लिये विधर्मी हो किसी न किसी

तरह का गन्दा-जीवन व्यतीत करती हैं। इस धधकती हुई पतनावस्था से बचाने के लिए १९२७ की शरद पौर्णिमा की रात में यह विचार किया गया कि यदि कोई आश्रम स्थापित किया जाय, जिसमें अनुचित गर्भ-धारिणी बहिनों के प्रसव का सारा प्रबंध अत्यंत गुप्त रीति से किया जाए और प्रसवोपरांत बच्चा आश्रम में ही रख कर उन बहिनों को उनके घर वापिस कर दिया जाए जिससे न तो वे किसी प्रकार बदनाम हो सकें, न उन्हें भ्रूण-हत्या ही करना पड़े तो सचमुच उन अभागिनी वहिनों का बड़ा उपकार हो, और वे सम्मान-पूर्वक अपनी जाति में रह कर विधर्मियों की संख्या-वृद्धि न करें। यह विचार तय होते ही हमने 'चाँद' आदि पत्रों में यह सूचना प्रकाशित करा दी। इसके प्रकाशित होते ही मेरे पास संकट में फँसी हुई वहिनों के पत्र आने लगे। जनवरी १९२८ में मुझे एक ऐसी उच्च-जाति की बहिन मिली—जिसका हृदय-विदारक दृश्य देख कर मैं इस कार्य में विलम्ब न कर सका और किराये से मकान लेकर यथाशक्ति फरवरी १९२८ से विपत्तिग्रस्त बहिनों की सहायता करने लगा। यह कार्य अत्यंत विशाल है और मेरी सक्ति अत्यंत परिमिव। क्षुद्र-शक्ति होने के कारण मैं अभी

तक ऐसी व्यवस्था न कर पाया जिससे अधिक बहिनों के धर्म तथा लज्जा की रक्षा कर सकूं। स्थानाभाव के कारण कई बहिनों को इच्छा न होते हुए भी, रोते हुए हृदय से, स्थान देने से अस्वीकृत कर देना पड़ता है।

"मेरे इस कठिन कार्य को जिन उदार-हृदयों तथा संस्थाओं ने और भी कठिन करने का दुखित प्रयत्न किया है उनमें "गोन्दिया श्रीकृष्ण गौशाला" का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस धार्मिक और नाम लोलुप संस्था ने १०१) देकर किस तरह मेरे मत्थे दो बच्चे पटक दिये उनका खर्च माँगने पर किस तरह उन्होंने अपना पैतरा बदल लिया तथा बरसों से उन बच्चों को मेरे जैसे दरिद्र व्यक्ति से पलवा रहे हैं, चालाकी से अनाथों तथा गौओं का टुकड़ा बड़े २ सेठों के व्यापार में व्यय हो रहा है आदि बातों का इस स्थल पर उल्लेख करना विषयान्तर है। यहाँ पर इतना ही लिखना बस है कि यद्यपि इस संस्था के संस्थापक ने विशाल-हृदय से इसकी स्थापना की थी, पर वर्तमान अधिकांश संचालकगण स्वार्थवश ऐसे बच्चों को हरामी करार देते और उन्हें त्याज्य बतलाते हैं और हमारी राय में यही सबब है कि इसके

मातहत अनाथालय द्वारा शिशुओं की रक्षा नहीं वरन् उनका प्राण-नाश होता है। इस पर अन्यत्र टीका टिप्पणी दरकार है।

"प्रसंग-वश हम यहाँ "चाँद" की कुछ अप्रिय किन्तु सत्य और स्पष्ट बात पाठकों के मननार्थ दे रहे हैं।

"सच बात तो यह है कि आज अभागे हिन्दू समाज में नित्य ही सैकड़ों गर्भ-पात, सैकड़ों भ्रूण-हत्याएं होती हैं, एवं न जाने कितने अनाथ नवजात शिशुओं को परित्याग किया जाता है। इस प्रकार की न जाने कितनी घटनाएं हिन्दुओं की लंबी नाक को कलंकित करती हैं।

"हमारा जातीय-जीवन, हमारी सामाजिक-स्थिति आज भयंकर है और कौन कह सकता है, हमारे पापों का बोझ किस समय हमें रसातल पहुँचा दे। पापों पर पाप और उन पापों की पुनरावृत्तियाँ—यह कितना जघन्य है।

"महाभारत कहता है कि धीवर की कुमारी कन्या सत्यवती के साथ महर्षि पाराशर का संयोग हुआ था और उससे भगवान् वेद-व्यास जी उत्पन्न हुए थे। कुमारी कुन्ती के साथ सूर्य ने व्यभिचार किया था और परिणाम

स्वरूप प्रातःस्मरणीय कर्ण का जन्म हुआ। महाकवि कालिदास के वंश का आज तक पता नहीं मिल सका, वे एक वृक्ष के नीचे रोते हुए पाये गये थे। महात्मा कबीरदास जी (लहतारा) तालाब के घाट पर बनारस में पाये गये थे और एक मुसलिम नव-दम्पति द्वारा पाले गये थे इत्यादि २ इस प्रकार यदि उक्त अनाथ बच्चों को कोई भी हिन्दू हरामी कहने का साहस करता है तो उसे स्मरण रखना चाहिये कि महा-भारत के अधिकांश पात्र (उस महाभारत के,) जिस पर हिन्दू जाति को गौरव है—उक्त बच्चों की ही भाँति हरामी थे। और हाय! आज हम अपने पापी हाथों से कितने ही अनाथ एवं अभागे वेद-व्यासों, कर्णों, कबीरों और कलिदासों को निर्दयता-पूर्वक अपने से दूर—बहुत दूर फेंक रहे हैं।

हिन्दू जाति जिन बच्चों को आज हरामी करार दे कर मरने अथवा विधर्मियों के हाथ में पड़ने के लिए फेंक रही है, वैसे ही बच्चों के द्वारा ब्रिटेन आज संसार पर अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा है। यह भारत और ब्रिटेन में एक महत्वपूर्ण अन्तर है, जिसके कारण भारत शासित और ब्रिटेन शासक है।"

यह हुआ हमारे देश के एक स्थान या एक प्रान्त की

अवस्था का चित्रित चित्र! फिर इस सुविस्तृत और विशाल भारत जैसे देश में इस सम्बन्ध का दृश्य कितना रोमांचकारी उपस्थित होगा? जिसकी कल्पना करके आत्मा काँप उठती है। सृष्टि नियम को दृष्टि में रखते हुए स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षित होकर प्रेम सूत्र में बंध जाना कोई आश्चर्य-कारी घटना नहीं है। ऐसी घटनायें नित्य घटा करती हैं। परन्तु वैवाहिक नियम की कड़ाई और प्रचलित जाति पाँति का भेद-भाव उन प्रेमी-प्रेमिकाओं के परस्पर साहचर्य-कार्य को लुक छिप कर करने के लिये बाध्य करता है। जिन्हें ढीला करने की बहुत सख्त आवश्यकता है। मनु आदि स्मृतिकारों के समय में इतनी कठिनाई की समस्या इस सम्बन्ध में नहीं मौजूद थी। लोग अपने-अपने मन के अनुकूल जोड़ा चुन लिया करते थे। जिससे समाज में व्यभिचार दोष से उत्पन्न पुत्रों का सर्वथा अभाव था वह इसलिये कि जब खुले आम लोगों को अपने अपने मन के अनुकूल जोड़ा चुन लेने की सुविधा थी तो लोग लुक छिपकर व्यभिचार ही क्यों करते? जिस प्रकार पुरुष पतित स्त्री का परित्याग कर सकता है, उसी प्रकार स्त्री भी पतित पति का परित्याग कर सकती है इत्यादि बातों से

परिपूर्ण सामाजिक जीवन भ्रूण-हत्या आदि कृत्यों को रोक सकने में सर्वथा समर्थ था। परन्तु आज कल उस वातावरण का अभाव होने से भ्रूण हत्या आदि जघन्य कृत्य बहुधा संभव हो रहे हैं और इस सम्बन्ध में सब से अधिक कठिनाई कृत्रिम जाति-पाँति का बंधन उपस्थित कर रहा है।

वर्तमान-काल में स्त्री का अपकृष्ट पति को छोड़ कर उत्कृष्ट को करना महिला जगत् में ही नहीं, वरन् धार्मिक रीति से ही बुरा माना जा रहा है। लोग इसे धर्म-शास्त्रों के विरुद्ध कार्य समझते हैं। परन्तु प्राचीन काल में यह अवस्था न थी। प्राचीन काल में स्त्रियाँ भी उसी भाँति से आजाद थीं, जिस भाँति पुरुष आज़ाद रहे हैं। महाभारत में स्त्रियों की इस आजादी के सम्बन्ध में पाण्डु और कुन्ती का संवाद देखने योग्य है।

हर्ष की बात है कि इधर कुछ थोड़े दिनों से हमारी रूढ़िग्रस्त धारणाओं में परिवर्तन होना आरंभ हो गया है। देश के अनेक नर-रत्नों ने इन रूढ़ियों पर पाद-प्रहार कर हमारे लिये जीता जागता नमूना सामने ला रक्खा है। भारत की विमल विभूति म० गांधी और पं० जवाहरलाल नेहरू तथा स्वामी श्रद्धानन्द

आदि प्रभृति महापुरुष इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

यह देश का बहुत बड़ा सौभाग्य है, जहाँ ऐसे क्रूर और अन्ध-विश्वासी लोगों के रहते हुए भी कुछ ऐसे दयालु हृदया देवी देवताओं का भी सर्वदा से निवास रहा है। जो अनाथ बच्चों के प्रति सहानुभूति और पारस्परिक-प्रेम के महत्त्व को समझते रहे हैं।

उपर्युक्त 'भ्रूण-हत्या प्रतिबंध-गृह' से एक महिला ने (जो संतान विहीन है, जिसके शब्दों से यह स्पष्ट हो रहा है) किसी एक बालक को लेकर पुत्रवत् पाला था, बालक का कुछ काल बाद स्वर्गवास हो जाने पर कैसी ममता-पूर्ण शब्दों में लिखनी है, जिसको पढ़ कर और उस स्थिति का अनुभव कर कोई भी मातृ-हृदय अश्रुओं की वारिधारा को रोकने में समर्थ न हो सकेगी। पाठकों के अवलोकनार्थ हम उस देवि की प्रेमांजलि को भी उद्धृत करते हैं:—

"लो पुण्यरूपी देवात्मा, वीर सुधीर कुमार ! तुम २३ जून १९२८ ई० के प्रातः ९ बजे इस माया-मोह-मय प्रपंची संसार के उद्यान में खिले थे, और हमने अपनी वात्सल्य-भक्ति-पिपासा को

शांत करने के लिए तुम्हें १५ अक्टूबर १९२८ को ८ बजे रात्रि को विधवा-आश्रम दरियागंज देहली से केवल ४ मास की अल्पायु में लिया था। पर हाय ? अधीर माता की गोद में सवा दो वर्ष के ही होकर २६ सितम्बर १९३० को प्रातः ९ बजे हँसते हुए इस क्षणभंगुर संसार से तुम स्वर्ग लोक में अपनी अलौकिक सुसमीर उड़ाने चले गए। प्यारे सुधीर ! तुमने अपनी चुलबुली हरकतों से, अपने अलौकिक कृत्यों से, अपनी मधुर और मीठी बोली से, अपने स्वाभाविक चित्ताकर्षक रूप-राशि से, अपने वैभव-शाली उद्‍गारों से हमारा हृदय टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

"तुममें अवश्य कोई महान् आत्मा निवास करती थी। यदि तुम विकसित होते तो अवश्य अपनी सुगंधि से संसार को मुग्ध करते।

"मैं और तुम्हारे पिता बाबू कश्मीरीलालजी गुप्त "जगाधरी" उस अतुलित अनुराग से बाधित होकर "भ्रूण-हत्या प्रतिबंधक गृह" की दर्दनाक आवाज़ देश के कानों में बुलन्दकर आशा करते हैं कि इस आवाज़ से तुम्हारी ही तरह सहस्रों की रक्षा होकर तुम्हारी दिव्य-आत्मा को शांति मिलेगी।

टोटू जतोग
शिमला शैल

तुम्हारी बिलखती माता
सुशीला देवी,

क्या हमारे हिन्दू समाज में स्थित रूढ़िवादियों की इस दर्द-नाक भरी स्थिति को दृष्टिगत करके भी आँखें न खुलेंगी? यदि न खुलेंगी तो वह याद रक्खें आधुनिक नवयुवक-समाज उनकी प्रत्येक बातों को गेंद की तरह ठोकर लगाकर इधर से उधर फेंक देगा। जो निश्चय ही आधुनिक नवयुवकों के इन प्रयत्नों में किसी अंधकूप का सहारा लेगी और संसार से सर्वदा के लिये उस नाशकारी वृत्तियों का पतन हो जायगा।

दायभाग और स्त्रियाँ

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥

"जैसे आत्मा (स्वयं) और पुत्र में कुछ भेद नहीं है, वैसे ही पुत्र और पुत्री में भी कुछ भेद नहीं है। उस आत्म-रूपिणी पुत्री के वर्तमान रहते दूसरा कैसे धन ले सकता है।"

—मनुस्मृति ९-१३०

आधुनिक सुधारकों और साहित्यकारों में आजकल इस बात की भी चर्चा चल पड़ी है कि "पिता की सम्पत्ति में पुत्री को भी अधिकार मिलना चाहिये? हिन्दू समाज में पिता की सम्पत्ति में पिता के मरने के उपरान्त भाइयों के

है। कितने ही माता-पिताओं को इसने भयंकर पीड़ा पहुँचाई है। कितनी ही कन्यायें इसके दुरुपयोग से मृत्यु के मुख में जबर्दस्ती पीट-पीट अथवा मार-मार कर दहेज-रूपी कुरीति के घाट उतारी गई हैं। कितनी ही कन्याओं का जीवन इस दहेज की प्रथा से सत्यानाश हो गया है। इस दहेज की प्रथा ने आज कितनी ही कन्याओं को शहर के मध्य बार-वनिता बन कर बैठने के लिये विवश कर दिया है। इसीलिये आज समाज में दहेज के प्रति लोग घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं।

प्राचीन काल में दहेज का रूप ऐसा नहीं था। माता-पिता अपने संपत्ति में जिस प्रकार पुत्र का भाग करते थे उसी प्रकार कन्याओं का भी भाग होता था। दायज शब्द इसी बात को प्रकट कर रहा है। दायज और दायभाग दोनों एक ही धातु से उत्पन्न शब्द हैं। धातु के आधार पर दोनों का लगभग एक ही प्रयोजन है।

आधुनिक सुधारवादी कन्या शब्द पर कभी विचार नहीं करते। उनको निश्चय ही कन्या शब्द का ज्ञान नहीं। हमारे धर्मशास्त्रकारों ने कन्या शब्द उनके लिये प्रयुक्त किया है जो युवती हैं, परन्तु अविवाहित अर्थात् क्वाँरी हैं, अथवा अक्षतयोनि

हैं। जो अभी पति के गृह नहीं गई हैं। जब वे पति के गृह जाने लगेंगी और अपने पिता का गोत्र छोड़ कर पति के गोत्र को ग्रहण करेंगी तब साथ में अपना भाग लेती जायेंगी। पिता अथवा भाई उनका भाग सहर्ष उनको दे देगा। परन्तु आजकल यह न होकर समाज में बालक के पिता की ओर से अपनी इच्छानुसार धन माँगने की रीति चल पड़ी है। जो दहेज के रूप को सत्यानाश कर रही है। इससे समाज निरन्तर पतन की ओर बढ़ता जा रहा है।

मनु ने इसी पिता के यहाँ से ले गये हुये दायज-रूप-धन को स्त्री-धन माना है। वे कहते हैं:—

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीति कर्मणि।
भ्रातृ मातृ पितृ प्राप्तं षड्विधं स्त्री धनं स्मृतम् ॥

मनु० ९—१९४

विवाह-काल में अग्नि के सन्निधि में पित्रादि का दिया हुआ धन, बुलाकर दिया हुआ धन, प्रीति कर्म (पति के गृह में जाने पर पति द्वारा सत्कार) में प्राप्त हुआ धन, पिता-माता से पाया हुआ धन यह ६ प्रकार का स्त्री धन कहलाता है।

अन्वाधेयं च यद्दत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत् ।
पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत् ॥

मनु० ९—१९५

अन्वाधेय (विवाह के ऊपर पति के कुल में स्त्री जो धन पावे वह) धन और जो पति ने प्रीति कर्म (सत्कार) में दिया हो, पति के जीते हुये मरी स्त्री का वह सम्पूर्ण धन, सन्तान का हो ।

ब्राह्म दैवार्ष गान्धर्व प्राजापत्येषु यद्वसु ।
अप्रजायामतीतायां भर्तुरेवत दिष्यते ॥

मनु० ९—१९६

ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व और प्राजापत्य इन पाँच प्रकार के विवाहों (के समय) में स्त्रियों को ६ प्रकार (का) धन प्राप्त होता है, वह अपुत्रा स्त्री के मरने पर पति का ही है ।

इस तरह जब तक वह स्त्री मर न जाय उसका धन कोई न लेवे । परन्तु आधुनिक प्रचलित समाज में आज इस व्यवस्था का अभाव है । कन्या के ससुराल वाले स्त्री-धन को हड़प कर जाते हैं । जिससे संभवतः यदि भविष्य में दंपतियों के

बीच कभी विषमता उत्पन्न हो जाती है तो स्त्री-जीवन बड़े संकट में पड़ जाता है। धन-हीन होने के कारण समाज में स्त्री-जीवन की जो दुर्गति होती है, उसे लेखनी प्रकट करने में असमर्थ है।

दायज—जिसका जिक्र ऊपर किया गया है, पिता की उसके अपने पास मौजूद संपत्ति का कन्या के निमित्त भाग-रूप है, यदि कन्या का पिता उसके अपने विवाह के पूर्व ही मर जावे तो उसके जो भाई लोग पिता की संपत्ति के अधिकारी होते हैं, विवाह समय में उसका भाग देवें। यही बात ऊपर मनु के श्लोक द्वारा बताई गई है। जो भाई कन्या को उसका भाग न दें वे दंडित होते हैं। मनु ने इस विषय में आज्ञा दी है। जिसका उल्लेख दण्ड विधान में किया जा चुका है।

अतिरिक्त कन्याओं को कोई अधिकार नहीं मिलता। यह सर्वथा अन्याय है।"

लोगों की यह धारणायें कहाँ तक ठीक हैं? क्या सचमुच पिता की सम्पत्ति में कन्याओं को कोई अधिकार नहीं मिलता? क्या कन्यायें पिता की सम्पत्ति में सचमुच ही बिलकुल अधिकार नहीं रखतीं?

यद्यपि ऊपर के श्लोक में मनु स्पष्ट रूप से बतलाते हैं—जैसे 'पुत्र' वैसे 'पुत्री'। पुत्री के रहते हुए उसके पिता की सम्पत्ति को लेने वाला कोई दूसरा नहीं हो सकता। इसलिये प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारे शास्त्रकार जब पुत्री को पुत्र की दृष्टि से ही देखते हैं तो भला उन्होंने पुत्रियों को पिता की सम्पत्ति में उसी प्रकार क्यों नहीं अधिकार दिया? जिस प्रकार समाज में पुत्र के लिये प्राप्त है। यदि दिया है तो किस रूप में? यहाँ इसी प्रश्न का निराकरण किया जायगा।

यह तो ठीक है कि हिंदू-समाज में पिता की सम्पत्ति में भाइयों के रहते हुए कन्याओं को कोई अधिकार नहीं दिया जाता है, परन्तु क्या शास्त्रकारों ने भी इसी पद्धति को अपनाया है? इस बात की जाँच करने के लिये जब हम मनु-

स्मृति की ओर अपनी दृष्टि ले जाते हैं तो हमें वहाँ निम्न-श्लोक लिखे मिलते हैं:—

येषां ज्येष्ठा कनिष्ठो वा हीयेतांश प्रदानतः ।
म्रिये तान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥

मनु० ९—२११

जिन भाइयों के बीच में ज्येष्ठ भाई या छोटा भाई धन (पिता के मरने के बाद पिता की सम्पत्ति) बाँटते समय न रहा हो, (साधु हो गया हो या मर गया हो) वह अपना भाग न ले सका हो तो इससे उसका भाग लुप्त नहीं होगा।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर उसके भाग का होगा क्या? मनु इसे आगे बतलाते हैं:—

सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम् ।
भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनामयः ॥

मनु० ९—२१२

सब सहोदर भाई और बहनें मिलकर उस अंश को बराबर बराबर बाँट लें।

यहाँ सब सहोदर भाई के साथ-साथ बहनों का भी (पिता

की सम्पत्ति में भाग) बराबर-बराबर बाँट लेने की बात हमको एक आश्चर्य में डाल देती हैं, इसलिये कि जहाँ या जिस समाज में कन्या का पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार ही न माना जाता हो, वहाँ या उस समाज की धर्म-पुस्तक में कन्या के भाइयों के साथ-साथ पिता की सम्पत्ति में हिस्सा मिलने की यह चरचा क्यों है ? इससे मुझे तो प्रतीत होता है कि कन्याओं को भी पिता की सम्पत्ति में बराबर अधिकार दिया गया है। परन्तु संभव है समाज ने इस अधिकार को किसी दूसरे रूप में रख छोड़ा हो।

यह दूसरे रूप की बात मेरे मस्तिष्क में इसलिये उठती है कि समाज में कन्याओं के लिये दहेज की एक प्रथा प्रचलित है। जिसका शुद्ध-रूप दायज है। यह दायज कन्या को पिता की ओर से दिया जाता है। जिस पर आगे विचार किया जायगा। जिसे पिता के न होने पर भाई लोग देते हैं। मनु ने लिखा है:—

स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक् ।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिता स्युरदित्सवः ॥

मनु० ९—११८

भाई लोग (पिता के मरने पर पिता की संपत्ति का बट-वारा करते समय) अपने-अपने भागों में से चौथा भाग बहनों को देवें, जो न देवें वह पतित (दंड के पात्र) होते हैं।

जनन्यां संस्थिता यांतु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥

मनु०—९—१९२

माता के मरने पर सब सहोदर भाई और सहोदरा बहनें मिलकर मातृ-धन को बांट लेवें।

इस तरह माता-पिता की सम्पत्ति में कन्याओं का भाग लेने के सम्बन्ध में धर्म-शास्त्र में हमें उपर्युक्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। परन्तु फिर भी हमारे कुछ भाई जो पश्चिमीय-सभ्यता के पुजारी अथवा हिमायती हैं, हमारे धर्म शास्त्र निर्माताओं को पक्षपाती अथवा एकांगी दृष्टि रखने वाला कहने का दुस्साहस करते हैं। उनमें इस दुस्साहस के उत्पन्न होने का कारण है, वह यह कि लोगों ने इसे दायज्ञ का रूप दे दिया है। जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है।

वर्तमान-काल में इस दायज्ञ का बड़ा दुरुपयोग हो रहा

अर्थ-शास्त्र और स्त्रियाँ

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।
प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥

मनु० ९—७५

"अब तक हम अन्धकार में थे—मोहावच्छन्न थे—हमने उन्हें ठुकराया था—दबाया था और हेय दृष्टि से देखा था—पर इस जागृति-काल में संसार-संपर्क के समय में जब परिवर्तन की इस लहर ने—झोंक ने—हमारी निद्रा को झकझोर दिया—तब हमारी आँखें खुलीं ।"

—कविरत्न कामेश्वर शर्मा

भारतवर्ष ही क्या ? सम्पूर्ण विश्व में, आज से कुछ वर्षों पहले स्त्री-जगत्, पुरुष-जगत् का गुलाम के तुल्य था। वह भी ऐसा वैसा गुलाम नहीं, संपत्ति रूप में। जिसका चित्रण आगे कराया जा चुका है। यही नहीं, स्त्रियों

और बच्चियों के व्यापार तक की क्रिया की काली-रेखा भू-मंडल के इस छोर से लेकर उस छोर तक फैली हुई थी। जो पुरुषों के पैशाचिक ताण्डव-नृत्य की परिचायक है।

इस सम्बन्ध में मुझे एक पुस्तक प्राप्त हुई है जो विभिन्न प्रदेशों में पुरुषों द्वारा स्त्रियों और बच्चियों के व्यापार को प्रकट करती है, जिसकी भूमिका की दो चार पंक्तियों का उद्धरण देना यहाँ उपयोगी होगा—

"स्त्रियों और बच्चियों के व्यापक व्यापार की काली कहानी जितनी कलुषित है, उतनी ही करुण है। माँ, और बहनों, एवं युवतियों और बच्चियों के ख़रीद-फ़रोख़्त का रोमांचकारी दास्तान लिखते-लिखते क़लम काँप उठती है, कलेजा मुँह को आता है और दिल में दर्द होने लगता है।

"बुद्धि कहती है, कि जैसी अपनी माँ-बहन वैसी दूसरे की, जैसी अपनी बहू-बेटी वैसी पराये की, फिर पापाचार की यह कलंकित-रेखा भूमंडल के इस छोर से उस छोर तक क्यों फैली हुई है?

"दुनियाँ के लोगों को विश्वास है कि हम सभ्य हो रहे हैं, योरोपीय देशों के निवासियों का तो यहाँ तक यक़ीदा है

कि हम सभ्यता के सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचे हैं । हम नहीं कह सकते कि उनकी यह धारणायें कहाँ तक सही हैं पर उन्नति के शिखर पर चढ़ने वाले राष्ट्र और समाज क्या अपनी महिलाओं और बालिकाओं का क्रय-विक्रय किया करते हैं ?

"इस पुस्तक में ऐसी अनेक दास्तानें हैं जिन्हें पढ़कर मनुष्य की तो बात क्या, पत्थर भी रो पड़ें ! औरतों के व्यापारियों के चंगुल में फंसी हुई ललनाओं के करुण-क्रन्दन, मालूम नहीं, द्रौपदी की लाज-रखैया के कानों तक क्यों नहीं पहुँचती हैं ।

"लड़कियाँ उड़ाई जाती हैं, युवतियाँ भगाई जाती हैं और बहुएँ फुसलाई जाती हैं । लड़कियों को उड़ा कर अमेरिका ले जाया जाता है, युवतियों को भगाकर मैक्सिको ले जाया जाता है और बहुओं को फुसला कर अर्जेन्टाइन, ट्यूनिस, मिस्र आदि देशों में ले जाया जाता है ! सभी देशों में ऐसे हजारों अमीर हैं जिन्हें सदा नई नवेलियों की जरूरत रहती है और बदमाशी और व्यभिचार ही उन्हें जीवन का सुख दिखलाई देता है ।..........................

"इनमें से अनेक बाल-बच्चे वाले होंगे ? जिनके अपने

बच्चे होते हैं, वे खूब समझते हैं कि बच्चों पर गाज गिरने के क्या माने होते हैं। यदि उनके बच्चों के साथ वही सलूक किया जाने लगे और उनकी लड़कियाँ हरण की जाने लगें तो उनके दिल पर कैसी बीते और उनके कलेजे का टुकड़ा बच्चों पर किन-किन आफतों का पहाड़ टूटे! जब वे उड़ा लाई हुई पराये की लड़कियों के खून के आँसुओं का और उनकी आरज़ू मिन्नतों का कोई लिहाज़ नहीं करते, तो दूसरे उनकी दुख़्तरों की तक़-लीफ और आराम का क्यों कर विचार रक्खेंगे? जो दूसरों के लिये खाइयाँ खोदेंगे उनके लिये कुएँ तैयार रहेंगे, बबूल का पेड़ रोपने पर कोई आम के फल पाने की आशा नहीं कर सकता।

"हम यह नहीं कहते कि संसार की सारी स्त्रियाँ दूध की धोई हुई हैं और पुरुष ही पाप के मूल हैं। पाश्चात्य महिलाओं ने अपने जीवन को इतना ख़र्चीला और ज़रूरत से ज्यादा टीम-टाम का बना रक्खा है कि उन्हें उन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये येन-केन-प्रकारेण अधिक से अधिक पैसा पैदा करना होता है। हम स्त्रियों के फैशन के मुख़ालिफ नहीं, हम अपनी युवतियों के भद्दे तरीक़े से रहने और मनहूस सी शक्ल बनाये रखने के पक्ष-पाती नहीं हैं। हम चाहते हैं और दिल से चाहते हैं कि हमारी

सुन्दरियाँ अपने नाज़-नखरों, मुस्कयानों और कटाक्षों तथा अपनी सुन्दरता, सौरभ और रंग-बिरंगे कपड़ों से, समाज में सदा सौंदर्य की छवि बखेरती रहें, पर हम उसकी भी एक सीमा समझते हैं।....................................."

अब तनिक आप विचार कीजिये। स्त्रियों और बच्चियों का व्यापार और युवतियों के साथ व्यभिचार तथा बलात्कार की करुण कहानी का प्रादुर्भाव भारत ही नहीं, वरन् संपूर्ण विश्व में क्यों है? हमें पग-पग पर बर्बरता पशुता और अत्याचार प्रियता का दृश्य संसार में क्यों दृष्टिगत होता रहा है?

व्यभिचार और बलात्कारणीय प्रवृत्ति के संबंध में यद्यपि बहुत कुछ लिखा जा चुका है, जिनकी सृष्टि सामाजिक मनोवृत्ति और कुसंस्कार के कारण हो जाती है। परन्तु व्यापार जैसा घृणित-ताण्डव-दृश्य किस प्राकृतिक नियम का उपलक्षण है? यह समझ में नहीं आता।

व्यभिचार और बलात्कार का होना तो प्राकृतिक-प्राप्त परस्पर-साहचर्य के नियम की ओर संकेत करता है। परन्तु स्त्री, बच्चों और युवतियों का व्यापार तो अमानुषिक, जघन्य और महापाप का भंडाफोड़ करते हैं। भारत में ऐसे बहुतेरे स्थान

हैं, जहाँ इस प्रकार स्त्रियों की बिक्री का बाजार लगा हुआ है। फुसला कर बहका कर स्त्रियाँ ले जाई जाती हैं और उनका उन देशों में पार्सल भेजा जाता है जहाँ स्त्रियों की संख्या कम है।

इस जघन्य-कृत्य का आविर्भाव यद्यपि पुरुषों की दूषित मनोवृत्ति का ही परिणाम है। तथापि इसमें स्त्रियों का भी हाथ रहता है। परन्तु ऐसी स्त्रियों की मनोवृत्ति प्रारम्भ में पुरुषों के द्वारा ही बनाई गई होती है। आवारा व्यभिचारिणी और पापिनी होकर जब वे समाज में कहीं की नहीं रहतीं उनको ऐयाशी एवं भोग-विलास की कामना निरन्तर अन्तःकरण में एक विषम वेदना के सदृश प्रतीत होती रहती हैं तो वे उन व्यभिचारी और अनाचारी पुरुषों के आश्रित होकर रहना ही उपयुक्त समझती हैं, जिनसे उनकी मनोभिलाषा की पूर्ति होती रहती है।

अपनी मनोभिलाषा की विवशता के कारण ऐसी बहुतेरी स्त्रियाँ समाज में हैं, जो पुरुषों की कलुषित मनोवृत्ति में सर्वदा सहायक रहती हैं। इनका कार्य बहुतेरी भले घर की बहू-बेटियों को बहकाना और उनका उड़ा लाना होता है। इस प्रकार नित्य-प्रति कितनी ही भले घर की स्त्रियाँ बहकाई और उड़ाई जाती हैं।

भारतवर्ष में स्त्री-शिक्षा के अभाव के साथ-साथ स्त्रियों को अर्थोपार्जन से नितान्त-विमुख रखना इस सम्बन्ध में और भी सहायक रहा है।

प्रायः देखा जाता है कि धनाभाव के कारण ही बहुतेरी स्त्रियाँ पुरुषों की कलुषित मनोवृत्ति के चक्कर में पड़ कर अपने जीवन को बरबाद कर लेती हैं। समाज में बहुतेरी विधवाएं हैं, जो पुनः पति की आकांक्षा नहीं रखतीं परन्तु विवश होकर उन्हें पति अंगीकार करना ही पड़ता है। यदि वह विधवा अकेली है तो दूसरे पति के साथ उसका जीवन किसी अंश में सुख-पूर्वक बीत जाता है। परन्तु यदि उसके बच्चे हुये तो दूसरे पति की बच्चों पर वास्तविक ममता के न होने के कारण पति-पत्नी के बीच विषमता उत्पन्न होकर उनका जीवन दुःखद-पूर्ण हो जाता है।

माता की ममता बच्चों पर रहना स्वाभाविक ही है, वह अपने बच्चों से प्यार की दृष्टि नहीं हटा सकती, पति का अंगीकार किये रहना भी आवश्यक ही है। फिर ऐसी स्थिति में विषमता का परिष्कार कैसे किया जा सकता है?

कितने पति हैं, जो अपनी पत्नी को अपने बूढ़े माता-पिताओं

के ऊपर निर्भर छोड़ कर विदेश चले जाते हैं। उनके खाने-पीने उनके पहिरने ओढ़ने की उनको किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं रहती। बूढ़े सास-श्वसुर यद्यपि उनकी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु प्रयत्न करते हैं तथापि जिस प्रकार करते हैं वह मानुषिक-जीवन के लिये श्रेयस्कर नहीं। इस प्रकार तो मनुष्य कुत्तों को भी खाना नहीं देता। फिर समाज में उनको अधिकार नहीं कि वे कुछ प्रयत्न कर द्रव्य उपार्जन कर सकें। अधिकार हो भी तो कहाँ से? वे धनोपार्जन कर सकने में बिलकुल अयोग्य बना दी गई हैं।

ऊपर उद्धृत किये गये हुए श्लोक में यद्यपि मनु आज्ञा देते हैं कि वे शिल्प आदि वृत्तियों से धनोपार्जन करें तथापि इसके साथ-साथ मैं स्त्रियों के अधिकार शीर्षक में इसकी एक लम्बी विवेचना कर आया हूँ कि वे धनोपार्जन कर अपने जीवन को आनन्द के साथ बिताने में उतना ही अधिकार रखती हैं जितना कि मानव-समाज में पुरुष। परन्तु चूंकि गृह-संचालन में, एक ओर धनोपार्जन का कार्य है तो एक ओर गृह की समुचित व्यवस्था करना भी आवश्यक है। फिर संतान-पालन आदि क्रिया सिवा स्त्री-जाति के पुरुष जाति से हो ही नहीं सकती। इस

लिये भारतीय धर्म-शास्त्रकारों ने प्राकृतिक-प्राप्त इन गुणों की अवहेलना करना उपयोगी न समझ स्त्री-जाति का जो साधारण धर्म है उसी पर विशेष जोर दिया है। इनकी मर्यादा की ओर ध्यान रखना भी उनके लिये आवश्यक ही था, क्योंकि भारत में स्त्रियाँ देवी-रूप अथवा शक्ति-रूप मानी गई हैं। देवी की शक्ति और देवी के गुण ही आदर्श संतानों का सृजन कर सकती हैं। दिव्य-भाव या उत्तम-गुण तभी उपलब्ध होते हैं जब अन्तः-करण शुद्ध एवं निर्मल होता है। जिसका अन्तःकरण अशुद्ध है, उसको सच्चरित्र समझना भूल है। भारतीय गृह-जीवन में स्त्रियाँ अन्तःकरण अथवा प्राण-रूप हैं और पुरुष बाह्य-शरीर अर्थात् आकार रूप, तब फिर स्त्रियों की ओर मनु का ध्यान क्यों न जाता?

सभी जानते हैं कि स्त्री और पुरुष के अधिक अवधि तक संसर्ग में रहने से विषमता का उपस्थित हो जाना कोई आश्चर्य-जनक और नई बात नहीं। इसीलिये मनु ने स्त्रियों के लिये उन वृत्तियों को धारण करने की ओर संकेत नहीं किया, जिन वृत्तियों में अधिक अवधि तक अन्य स्त्री पुरुष का संसर्ग रहकर विषमता के उपस्थित होने की आशंका हो सकती है।

शिल्पादि वृत्तियाँ स्त्रियों के लिये बहुत सुन्दर हैं, परिवार में रहते हुये बच्चों पर दृष्टि रखने के साथ-साथ वे इसको भली भाँति कर सकती हैं। उनकी मर्यादा भी इसमें सुरक्षित रह कर संसार के कल्याण में सहायक हो सकती है। चाहे वह विधवा हों, चाहे सधवा अथवा वे दीन और अनाथ ही क्यों न हों, शिल्प-विद्या में पूर्ण-प्रतिभा-प्राप्त स्त्री देश, जाति, समाज और गृह को ऊँचा उठाने में किसी भी भाँति संकुचित नहीं ठहराई जा सकती।

शिल्पादि वृत्तियों से इतर अन्य वृत्तियों के सम्बन्ध में मनु ने कहीं आपत्ति भी नहीं उठाई है, आवश्यकतानुसार वे हर विभागों में भाग ले सकती हैं, जैसा कि आज कल सोचा जा रहा है। परन्तु मेरा तो कहना यह है कि मनु का शिल्पादि वृत्तियों की ओर संकेत सर्व-साधारण स्त्रियों के लिये है न कि विदुषी अथवा सर्वाङ्ग-विद्या-पूर्ण पंडिता स्त्री के लिये। ऐसी स्त्रियाँ संसार की यात्रा बड़ी निर्भीकता से करती हैं। उनकी निर्भीकता, उनकी वाक्य-पटुता और उनका व्यवहार समाज के तुच्छ और छोटे विचार के लोगों को शंका का स्थान भी नहीं देते। यदि धृष्टतावश किसी को साहस भी होता है तो

वे भूक-भूक कर चुप हो जाते हैं, इसलिये कि वे ऐसे छोटे लोगों को छोटी बातों की ओर ध्यान ही नहीं देती। इस भाँति उनका जीवन पवित्र और संकट-विहीन होकर संसार-यात्रा में समर्थ रहता है।

मनु ने बतलाया ही नहीं यह सर्वतंत्र सिद्धान्त है कि स्त्रियाँ पुरुषों की अर्द्धाङ्गिनी हैं। इनके पति जिस मार्ग का अनुसरण करते हैं उसी मार्ग का अनुसरण करना इनका भी मुख्य कर्तव्य है। वेदों में इसीलिये स्त्री को अनुव्रता होने का उपदेश किया है। यद्यपि व्यावहारिक रूप में स्त्री को पतिव्रता होने का पाठ पढ़ाया जाता है, परन्तु इसका अर्थ इतना संकीर्ण किया जाता है कि उसका पूर्ण-रूप से मतलब ही नहीं हल होता। यही कारण है कि भारत का स्त्री-समाज अर्थ (धन) के सम्बन्ध में दुखित है। आपत्ति के आने पर वह अपने आपको सँभाल नहीं सकता। अर्द्धांगना (पति) के न होने पर अर्द्धांगिनी (पत्नी) की स्थिति क्या हो जाती है, यह सब आँखों से सभी देख रहे हैं। इसलिये मेरा तो कहना है कि वे (स्त्रियाँ) अन्य कार्यों की तरह अर्थार्जन में भी योग्य बनाई जावें। क्योंकि बिना अर्थार्जन की योग्यता प्राप्त कराये यदि कोई चाहे की स्त्री-जगत्

को गौरव दिया जा सकता है तो यह भी बड़ी भारी भूल है। अर्थ के अभाव के कारण स्त्री-जगत् कितने-कितने कष्ट उठाता है, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। यहाँ तक कि वे वस्तुओं के रूप में विक्रय तक की जाती हैं, फिर अर्थार्जन में उनको हीन रखना स्त्री को पूर्ण पतिव्रता या अनुव्रता बनाना नहीं है।

योग्यता की शक्ति का स्थापन उनके हृदय में प्रारंभ से ही किया जाना चाहिये, परन्तु यह हमारा दोष है कि हम उनको इससे दूर रखते हैं और कह देते हैं, हमारे धर्म-शास्त्र-निर्माताओं ने इसकी आज्ञा नहीं दी। आज्ञा नहीं दी तो उन्होंने मना कहाँ किया है ? वे तो परिस्थिति विशेष और सर्व-साधारण स्त्री के लिये कहते हैं कि उनको पति विहीन हो जाने पर शिल्पवृत्ति का सहारा लेना चाहिये, इसलिये कि साधारण स्त्री को अपयश बहुत शीघ्र लग जाता है। मसल भी मशहूर है:—

"निबले की मेहर सकल गांव की भौजाई।"

अत: मनु की उक्तियाँ मिथ्या नहीं हैं। जिस स्त्री की जैसी योग्यता हो उस स्त्री को वैसा ही कार्य करना उपयुक्त है। धीरे धीरे उसको अपनी योग्यता की वृद्धि भी आवश्यक है। इसके लिये मनु ने कहीं मना नहीं किया है। मेरी धारणा ही नहीं, प्रत्युत

देश के वड़े वड़े नेता सृष्टि से लेकर आज पर्यंत सर्वदा कहते आये हैं कि स्त्री-जाति जहाँ ऊँचा उठकर रहेगी वहीं सुख सम्पत्ति का सर्वदा निवास रहेगा। इसलिये आवश्यकता प्रतीत होती है कि भविष्य में भारतीय स्त्रियों को इस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा से युक्त कराया जाय कि आवश्यकता पड़ने पर वे अर्थार्जन कर सकने में विना विघ्न-बाधा समर्थ हों। जिससे वे किसी प्रकार वस्तु की भाँति न समझी जा सकें। उनका पूर्ण-पतिव्रता या अनुव्रता होना भी सार्थक हो।

परिशिष्ट

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यथा तथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृत कृत्यता ॥

मनु० अ० ४—१७

"अच्छी बातों की क़दर करना सीखो, जीवन का सारा सुख इसी बात पर निर्भर है, यह देखो कि महात्माओं ने किन बातों की क़दर की थी।"

—थेकर

अब तक हमने स्त्री-संबंधी विभिन्न उन बातों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है, जिनके सम्बन्ध में भारतीयों में कई दल हो रहे हैं। कोई स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्र करना चाहता है तो कोई उनको अपनी.साया में रखने का इच्छुक है,

और कोई तो उनको पूरी तरह कूप का मंडूक ही बना कर रखने में अपनी श्रेष्ठता समझते हैं। कितने ऐसे हैं जो इनको मित्र की भाँति देखते हैं, कितने दासी के तुल्य मानते हैं, और कितने इनको अपनी खरीदी संपत्ति ही समझे बैठे हैं। जिसके विषय में पर्याप्त रूप से लिखा जा चुका है।

मनु का प्रयोजन यह नहीं है। वे न दासी समझते हैं, न उनको कूप का मंडूक बना कर रखना ही प्रिय है, और न वे इनको अति निर्ल्लज्ज और उच्छृङ्खल ही बनाना चाहते हैं। उनका मार्ग मध्य का मार्ग है। इसलिये कि वे स्त्रियों का विशेष सम्मान करते हैं। उनकी अभिलाषा स्पष्ट प्रकट है कि वे स्त्रियों को विशेष मर्यादा के साथ रखना चाहते हैं। परन्तु समाज में कितने मनुष्य ऐसे हैं जो उन्हें बुरा भला कहने का प्रयत्न किया करते हैं, प्रक्षिप्तों के सहारे उनको नंगा, लुच्चा कहने में ही उनको मजा आता है। प्रक्षिप्त क्या है ? कैसे हैं ? इसको आगे बतलाने का प्रयत्न करूँगा। एक स्थल पर वे कहते हैं:—

अमंत्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृद् शेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्॥

मनु०-२—६६

क्रमानुसार उचित समय पर शरीर की शुद्धि के अर्थ स्त्रियों के विभिन्न संस्कार बिना मंत्रों के ही कर देने चाहिये। क्यों? इसलिये कि वे कन्याओं का विशेष सम्मान करते हैं, उनके संस्कारों के लिये उन्हें मंत्रोच्चारण की प्रतीक्षा कराना अभीष्ट नहीं।

इस उपर्युक्त मेरे प्रकट किये हुये विचार के अनुकूल यदि इस श्लोक का अभिप्राय है तो मैं इसे मनु का वचन मानने को तैयार हूँ अन्यथा तुलसीराम जी स्वामी ने ६६ और ६७ दोनों ही श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। क्योंकि वे संगति लगाते हैं:—

केशान्तः षोडषे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्य बन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्वयधिके ततः॥

मनु० २—६५

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्ति व्यंजकः पुण्यः कर्म योगंनिबोधत॥

मनु २—६८

इन दोनों श्लोकों और इसके अन्तर्गत आये हुए ६६, ६७ श्लोकों के विषय में तुलसीराम जी स्वामी लिखते हैं:—"६६वें

श्लोक का यह कहना तो ठीक है कि स्त्रियों के भी गर्भाधान से लेकर केशान्त संस्कार पर्य्यन्त सब संस्कार करने चाहिये। परन्तु इसके लिये किसी पृथक् विधान की आवश्यकता नहीं। क्योंकि तीनों वर्णों के जो-जो संस्कार पूर्व कह आये हैं, वे सब कन्या और पुत्र दोनों ही के हैं। पुल्लिङ्ग निर्देश अविवक्षित है, अर्थात् वक्ता का तात्पर्य वर्ण-मात्र में है, चाहे कन्या हो, वा पुत्र। जैसे कोई कहे कि—"योऽत्राऽऽगमिष्यति स मृत्युमाप्स्यति" =जो यहाँ आवेगा वह मर जायगा—इस दशा में यद्यपि पुल्लिङ्ग का निर्देश है, परन्तु कहने वाले का तात्पर्य स्त्री-पुरुष दोनों से है, अथवा वैद्यक-शास्त्र में पुल्लिङ्ग निर्देश करते हुये जो सामान्य विधि निषेध किये हैं, वे सब स्त्री-पुरुषों के एक से और एक ही विधि-वाक्य से विदित समझने चाहियें, और कन्याओं के विवाह संस्कार को छोड़कर अन्य संस्कारों में वेद-मंत्र पढ़ने का निषेध भी प्रक्षिप्त है, जहाँ तक हमने देखा और विचारा है वहाँ तक वेदों में कहीं यह निषेध नहीं पाया जाता। इसलिये ६६-६७ श्लोक स्त्री-जाति के विद्वेषी अन्य मतों के संसर्ग से प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं, तथा ६५ श्लोक को ६८वें से मिला कर पढ़िये तो ठीक सम्बन्ध चला आता है—"केशान्त संस्कार

ब्राह्मण (ब्राह्मणी) का सोलहवें वर्ष में करे और क्षत्रिय (क्षत्रिया) का २२ वें तथा उससे अधिक (२४ वर्ष) में वैश्य (वैश्या) का करे। (यह केशान्त संस्कार समावर्तन संस्कार है) यह ब्राह्मण (ब्राह्मणी) क्षत्रिय (क्षत्रिया) वैश्य (वैश्या) की उपनयन सम्बन्धी विधि कही। यह विधि जन्म की जतलाने वाली और पवित्रकारक है, (अब आगे कर्तव्य को सुनो)।"

यह एक उदाहरण हुआ जिसे हमने उद्धृत करके यह बताने का प्रयत्न किया है कि मनु में प्रक्षिप्त हैं। इन्हीं प्रक्षिप्तों के सहारे हमारे आधुनिक सुधारवादी मनु की धज्जियाँ उड़ाने की सोचते हैं। परन्तु उनका ऐसा सोचना निरर्थक है। इसलिये कि "वेदवाह्या: स्मृतय: याश्च काश्च कुदृष्टय:" कह कर वे अपना मार्ग साफ़ कर देते हैं। अतः मनु के प्रति कुवाक्य कहना अथवा शंका उठाना ही निर्मूल है। उनका अपना कथन वेद के आधार पर है। फिर संपूर्ण मनुस्मृति मनु कथित है, यह समझ लेना भी लोगों की प्रत्यक्ष भूल है। मेरा दृष्टि-कोण यह कहता है कि इसमें नमक मिर्च मिलाया गया है। इस पद्धति का चित्र प्रायः संसार में देखने को मिलता है। हमारी यह धारणा इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाती है, जो हमें स्थान-स्थान पर

मनुस्मृति के अन्दर उपलब्ध होते हैं, जिससे यह पता चलता है कि यह मनुस्मृति मनु कथित नहीं प्रत्युत किसी अन्य कथित है। कहीं कहीं के श्लोक भृगु पर इसकी रचना निर्भर करते हैं, परन्तु कहीं ऐसे भी श्लोक मिलते हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति न मनु की रचना है, न भृगु की। जैसे:—

मनु मेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रति पूज्य यथा न्यायमिदं वचन ब्रुवन्॥

मनु० १—१

मनु जी महाराज सुख से एकाग्र बैठे थे, ऐसे समय महर्षि गण उनके सम्मुख जाकर उनका यथा-विधि पूजन करके बोले:—

भगवन्सर्व वर्णानां यथावदनु पूर्वशः।
अन्तर प्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि॥

मनु० १—२

हे भगवन्, सब वर्णों तथा संकीर्ण जातियों के धर्म, जो जैसे हों, वे क्रम से हम लोगों को आप ही बता सकते हैं।

सतैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति ॥

मनु० अ० १—४

महात्माओं के इस प्रकार पूछने पर उन परम तेजस्वी मनु जी ने उन महर्षियों का उचित सम्मान करके कहा—अच्छा सुनिये:—

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद्ग्राह्यामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥

मनु० १—५८

इस शास्त्र की रचनाकर उस ब्रह्मा ने स्वयं सृष्टि के आरम्भ में मुझको विधि-पूर्वक सिखलाया और मैंने मरीचि आदि महर्षियों को बताया ।

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥

मनु० १—५९

अब भृगु जी इस शास्त्र को सम्पूर्ण रूप से आपको

सुनावेंगे, क्योंकि इन मुनि ने मुझसे यह सब अच्छी तरह सीखा है।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुनाभृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥

मनु० १—६०

मनु जी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वे महर्षि भृगु प्रसन्न हुए और उन्होंने उन सब ऋषियों से कहा, अच्छा सुनिये।

स्वयंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्याम नवोऽपरे ।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वामहात्मानो महौजसः ॥

मनु० १—६१

इस स्वायंभुव मनु के वंश में उत्पन्न हुये छः मनु और हुए, उन महा तेजस्वी महात्माओं ने अपनी-अपनी प्रजाएँ उत्पन्न कीं। उनके नाम ये हैं:—

स्वरोचिषश्चोत्तमश्चतामसो रैवस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्तुतएवच ।

मनु० १—६२

१—स्वारोचिष २—औत्तम ३—तामस ४—रैवत ५—चाक्षुष ६—वैवस्वत।

स्वायंभुवाद्या सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम् ॥

मनु० १—६३

स्वायंभुव से आदि ले सात मनु बड़े तेजस्वी हुये जिन्होंने अपने अपने अधिकार में संपूर्ण चर-अचर सृष्टि उत्पन्न करके पालन किया।

इस पर श्री तुलसीराम जी स्वामी इस प्रकार टिप्पणी लिखते हैं:—

"५८ से ६३ तक छः श्लोक असत्य जान पड़ते हैं। ५८ वें में मनु का यह कहना असंगत है कि मैंने यह शास्त्र परमात्मा से ग्रहण किया। यदि वेदों का तात्पर्य लेकर बनाये हुये को भी ईश्वरीय कहें तो न्याय शास्त्रादि सब ग्रन्थ परमेश्वर से ही ऋषियों ने पढ़े मानने पड़ेंगे, और मनु का ऋषियों से यहाँ तक अविच्छिन्न संवाद चला आता है इसलिये यह वाक्य भृगु की ओर से नहीं माना जा सकता और ५८ में यह कह कर कि "मैंने

परमात्मा से पढ़ा और फिर मरीच्यादि को पढ़ाया" ५९ वें में आगे यह कथन है कि "सो मेरा पढ़ाया हुआ शास्त्र भृगु तुमको सुनावेगा" इससे भी मनु का ही ऋषियों से संवाद चलता रहना पाया जाता है। किन्तु ये श्लोक बनाने वाले ने इस ग्रन्थ की अपौरुपेयता सिद्ध करने और यह सिद्ध करने को कि मैंने साक्षात् मनु से पढ़ा, बनाये हैं। आगे ६१, ६२, ६३ श्लोकों में यह वर्णन है कि स्वायंभुव के वंश में छः और मनु हुये थे जिन्होंने अपने-अपने समय में चराऽचर जगत् बनाये और पाले। इससे यह झलकता है कि श्लोक-कर्त्ता से पूर्व छः मन्वन्तर बीत चुके थे। तो छः मन्वन्तर बीतने पर इस भृगु को उपदेश करने स्वायंभुव मनु कहाँ से आया। इन श्लोकों का यह कहना भी असत्य है कि मनु के वंश में कोई देहधारी मनु नामक मनुष्य हुये और उन्होंने अपनी-अपनी प्रजा बनायी। ७१ चतुर्युगियों का १ मन्वन्तर आगे श्लोक ७९ में कहेंगे। फिर कोई राजा इतने दिनों तक कैसे वर्तमान रह सकता है। पुराणों ने सत्ययुग में एक लक्ष त्रेता में १० सहस्र, द्वापर में १ सहस्र और कलि में १०० वर्ष की आयु लिखी है। यह भृगु तो उससे भी आगे बढ़ गया। मन्वन्तर किसी पुरुष का नाम भी नहीं है। किन्तु

जैसे सत्ययुग आदि चार युग 'काल' की संज्ञा हैं वैसे मन्वन्तर भी आगे ७९ वें श्लोक में कहे प्रमाण ७१ चतुर्युगियों के बराबर काल की संज्ञा है। काल के नाम पर राजा का नाम संभव मानें तो भी एक मनु के वंश में दूसरा मनु कैसे रहे? और इतने दीर्घकाल तक एक-एक पुरुष की आयु कैसे रहे? क्योंकि ६३ वें श्लोक में (स्वे स्वेऽन्तरे) कहा है कि अपने-अपने काल के अन्तर (मन्वन्तर) में उस-उस मनु ने अपनी-अपनी प्रजा रची और पाली, और मन्वन्तर का वर्णन काल के विभागों (निमेष से लेकर) को बतलाते हुये ७९ वें श्लोक में आवेगा। फिर निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, दिन, रात, वर्ष, युग इत्यादि के पश्चात् वर्णन करने योग्य मन्वन्तर का यहाँ प्रथम ही वर्णन करना असंगत और पुनरुक्त भी है। श्लोक ५९ में (अशेषतः) (सर्वम्) (अखिलम्) ये तीन पद एक ही अर्थ में पुराणों की शैली के से व्यर्थ भी हैं।"

१२ वें अध्याय के ११६ वें श्लोक से यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि मनुस्मृति का संपादन करने वाला कोई और है। अतएव यह असंभव नहीं कहा जा सकता कि उसने अपनी ओर से कुछ न मिलाया हो।

१२ वें अध्याय का श्लोक यह है:—

एतद्वोऽभिहितं सर्वं निश्रेयस्करं परम् ।
अस्माद् प्रच्युतोविप्रः प्राप्नोति परमागतिम् ॥
एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया ।
धर्मस्य पापंगुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान् ॥

भृगु जी कहते हैं कि हे ! ऋषियों आप से मोक्ष देने वाले धर्म का स्पष्ट वर्णन किया, जो ब्राह्मण इस धर्म से पृथक् न हो वह मोक्ष की पदवी पाता है। इस प्रकार विद्वानों के राजा मनु ने संसारोपकारार्थ यह सब धर्म के गुप्त रहस्य मुझसे वर्णन किये थे जो मैंने तुमसे वर्णन किये हैं।

यह तो हुए अन्य विषयों के उदाहरण जो मनुस्मृति में उपलब्ध होते हैं। अब स्त्री सम्बन्धी भी कुछ उदाहरण देखिये।

मनुस्मृति में स्त्री सम्बन्धी श्लोकों की संख्या लगभग ३०० के होगी, जिनमें प्रक्षिप्त ४० के करीब हैं। ९ वें अध्याय में १४ से लेकर २४ तक ११ श्लोक तो स्पष्ट प्रक्षिप्त हैं। जिनके विषय में तुलसीराम जी स्वामी लिखते हैं:—

"१४ वें से २४ वें तक ११ श्लोकों में ऐसी झलक है

जैसी कि चाणक्य आदि के समय में स्त्रियों की अत्यन्त अवि-श्वस्ता की दशा थी। १४ वें में स्त्रियों को युवा आदि अवस्था और सुरूप पुरुष की आवश्यकता का अभाव लिखा है, जो तीन काल में कभी नहीं हो सकता कि स्त्रियें युवा और सुरूप पुरुष की इच्छा न करें, केवल पुरुष-'मात्र' जिसे देखें उसे ही भोगने लगें। यदि कहीं कामासक्ता स्त्री की यह दशा देखी भी जावे, तौ पुरुषों की इससे भी बुरी अवस्थायें प्रायः होती हैं। इसलिये स्त्रियों की ही यह निन्दा अनुचित है। '१५ वें में स्त्रियों में यह दोष बतलाया है कि उनका चित्त चंचल है और पुरुष पर चलता है, उसमें प्रीति वा स्नेह नहीं होती।' चल-चित्तता तो पुरुषों में भी कम नहीं होती। हां, स्नेह तौ पुरुषों से स्त्रियों में अधिक होता है। १६ वें में इनके इस दोष को ब्रह्मा का बनाया हुआ स्वाभाविक बताया है। जिससे मानो यह कहा है कि उनका स्वभाव कभी धर्मानुकूल सुधर ही नहीं सकता। इस कथन ने ऐसा कलङ्क स्त्रियों पर लगाया है कि प्राचीन काल की सच्चरित्रा देवियों की निन्दा का तो कहना ही क्या है। वर्तमान घोर समय में भी पुरुष चाहे कैसे ही घृणताचार हों, किन्तु स्त्रियों में अब भी अधिकांश सती

वर्तमान हैं, उनकी भी नितान्त असत्य निन्दा इससे होती है। १७ वें में जो शय्यासनादि दोष बताये हैं, वे पुरुषों में भी कम नहीं होते, और इस श्लोक में यह जो कहा है कि "स्त्रीभ्यो मनुर्कल्पयत्" ये दोष स्त्रियों के लिये मनु ने रचे। इससे इस प्रकरण-गत स्त्री-निन्दा का अन्य-कृत होना तो संशयित हुआ ही, किन्तु यह असत्य भी है कि ये दोष जिनमें काम-क्रोध अनर्जित्र और द्रोह भी गिनाये हैं, स्त्रियों के लिये ही मनु ने रचे। क्या यह दोष पुरुषों में नहीं होते? क्या मनु धर्म-व्यव-स्थापक होने के अतिरिक्त दोष-युक्त स्त्री-जाति के स्रष्टा भी थे? १८ वें का यह कहना कि उनके इन्द्रिय नहीं होतीं, कैसा श्वेत झूँठ है, जब कि उनके प्रत्यक्ष हस्तपादादि इन्द्रियों की सत्ता सर्व्व-जगद्गोचरी-भूत है। बस इसी से उनकी असंत्रक क्रिया के पक्षपात और अज्ञान को भी समझ सकते हैं। १९ वें में कहा है कि इस विषय में वेद की श्रुतियें भी प्रमाण हैं। २० वें में भी "किसी पुत्र का अपनी माता के मानस-व्यभिचार को वर्णन करना" वेद की श्रुति का नमूना बताया है। परन्तु यह श्रुति वेद में कहीं नहीं, सर्व्वथा असत्य है २१ वें में इस असत्य कल्पित श्रुति को मानसी-व्यभिचार-रूप पाप

का प्रायश्चित्त बताता है। २२-२४ तक में इतिहास से वसिष्ठ और मन्दपाल की स्त्री अक्षमाला और शारंगी नीचयोनि के उदाहरणों से इस बात को पुष्ट किया है कि पुरुष चाहे जैसी नीच स्त्री को विवाह सकते हैं। वह उन पुरुषों के सङ्ग से पवित्र हो जाती है। धन्य! पुरुष बड़े स्वतंत्र रहे और पारस की पथरी हो गये!!! और पूर्व जो द्विजों को सवर्णा स्त्री से ही विवाह करना कहा था; उसके विरोध का भी इस रचना वाले ने कुछ भय न किया; तथा मन्दपाल के वर्णन को जो मनु जी से बहुत पीछे हुआ है मनुवाक्य (वा भृगुवाक्य ही सही, यदि मनु और भृगु एक काल में वर्तमान थे तो) में "जगाम" इस परोक्ष भूतार्थ लिट् लकार से अत्यन्त प्राचीन वर्णन करना असंभव है। इत्यादि कारणों से हमारी सम्मति में यह रचना पश्चात् की है; और १३ वें का २५ वें से सम्बन्ध भी ठीक मिलता है।"

यह हुआ दूसरों का अनुभव, जिसे हमने संक्षेप में यहाँ रखने का प्रयत्न किया है।

अब नीचे रूस के वैवाहिक नियम और मनु के निर्धारित वैवाहिक नियम पर एक संक्षिप्त दृष्टि डाली जायगी।

रूस के नवीन वैवाहिक-नियमों और भारतीय धर्म-शास्त्रों

के वैवाहिक-नियमों की एकता के संबंध में जैसा कि पृष्ठ ३२४ पर हम लिख आये हैं, कुछ पंक्तियाँ लिखनी हैं। यद्यपि मेरा विचार था कि इस विषय पर हम पर्याप्त रूप से प्रकाश डालते परन्तु स्थानाभाव और साथ ही समयाभाव के कारण ऐसा करने में हम असमर्थ हैं। अतएव संक्षिप्त-रूप से उसकी सामञ्जसता का दिग्दर्शन हम नीचे कराये देते हैं। आशा है पाठक-वृन्द इतने से ही संतोष करेंगे।

रूस के वैवाहिक नियमः—

(१) यौवन के प्रारम्भ में ही भोग विलास नहीं करना चाहिये।

(२) विवाह के पूर्व नहीं मिलना चाहिये; और विवाह तभी करना चाहिये जब दोनों अच्छी तरह परिपक्व हो गये हों।

(३) जिनके जीवन का ध्येय एक ही हो, और जो समान-रूप से एक दूसरे की सहायता कर सकें, वे ही विवाह करें।

(४) जब अपने प्रियतम से खूब गहरी सहानुभूति हो तभी भोग करना चाहिये; पर यह अनेक बार नहीं; बल्कि बहुत ही कम कभी-कभी होना चाहिये।

(५) प्रत्येक सम्भोग बच्चा पैदा होने की सम्भावना से करना चाहिये, सन्तान-निग्रह करना या पेट गिराना हानिकर है।

(६) प्रेम के सम्बन्ध में एक दूसरे को अपने हाव-भाव से मोहित करना, या चोचलेवाजी करना, या नख़रे दिखाना बिलकुल मना है।

(७) क्रान्तिकारी उद्देश्यों को सफल करने का लक्ष्य वैवाहिक सम्बन्ध में होना चाहिये। किसी के रूप पर मोहित होना वर्बरता के लक्षण हैं। प्रियतम या प्रियतमा चुनते समय मानवता को सुधारने का ध्यान रखना चाहिये।

(८) ईर्ष्या या प्रतिद्वन्दिता नहीं करनी चाहिये। यदि कोई पुरुष बुरा है, तो वह अपने से अच्छे पुरुष के लिये स्थान खाली कर दे।

मनु के निर्धारित वैवाहिक नियम:—

१—बिना ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण किये गृहस्थाश्रम का नाम न लेना चाहिये।

२—ब्रह्मचर्याश्रम छोड़ने के उपरान्त माता-पिता और समाज की सहायता से अपनी इच्छानुकूल कन्या का वरण करना चाहिये।

३—विवाह से पूर्व वर और कन्या को स्वतंत्रता-पूर्वक मिलाप न करना चाहिये।

४—अपने समान गुण, कर्म, स्वभाव वाले पुरुष का वरण करना कन्या का और अपने समान गुण, कर्म, स्वभाव वाली स्त्री का वरण करना पुरुष का लक्ष्य होना चाहिये।

५—ऋतुकाल में स्त्री और पुरुष का परस्पर व्यवहार होना चाहिये, सर्वदा नहीं।

६—परस्पर व्यवहार सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा को रख कर करना ही उपयुक्त है।

७—अपने पति से पत्नी का और पत्नी का पति से ही व्यवहार शिष्ट और मर्यादित है, अन्य से व्यवहार करना व्यभिचार और पाप में शामिल है।

८—पति-पत्नी का अपने व्यवहार से परस्पर प्रसन्न होकर रहना ही उपयुक्त है। पति का प्रधान कर्त्तव्य है कि वह स्त्री की सर्वदा पूजा करे और पत्नी भी अपने प्रयत्नों में सर्वदा पति को सुख पहुँचाती रहने का उपाय करे।

९—अपनी २ उन्नति की ओर पति-पत्नी सर्वदा ध्यान रक्खें और अपनी-अपनी कीर्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें।

अधिक भोग-विलास में रत होना उनके जीवन का उद्देश्य नहीं।

१०—पति-पत्नी का चुनाव मोह-वश नहीं होना चाहिये, प्रत्युत यह देख कर होना चाहिये कि हाँ, स्त्री और पुरुष परस्पर एक दूसरे के जीवन-पर्यंत के सच्चे साथी बनेंगे। अपने प्रयत्नों में दोनों मनुष्यता का ध्यान रक्खेंगे और देश, जाति, समाज तथा अपने कुल की वृद्धि में सहायक होंगे।

११—पति-पत्नी परस्पर मित्र की तरह प्रसन्न हो कर रहें एक दूसरे के प्रतिद्वंदी न हों, यदि परस्पर द्वेष रहता है और उनके जीवन में गहरी विषमता का दृश्य दृष्टिगत् हो रहा है और उससे क्षति होने की आशंका है तो दोनों अलग-अलग हो जायँ।

१२—पुरुष यदि संतान पैदा करने के योग्य नहीं है तो स्त्री को आज्ञा देवे कि वह परिवार के किसी दूसरे पुरुष से नियोग करा कर संतान उत्पन्न कर ले, या वह स्त्री दूसरे पुरुष का वरण कर उससे संतानोत्पत्ति कर ले।

१३—यदि स्त्री बंध्या है तो पुरुष दूसरा विवाह करके संतानोत्पत्ति करे। परन्तु पहली स्त्री की प्रसन्नता और उसकी इच्छा की ओर भी ध्यान रक्खे। उसका पोषण करते रहना भी उसके लिये आवश्यक ही होगा।

यह १३ बातें हैं जो संक्षिप्त रूप से लिखी गई हैं। मेरी दृष्टि में भारत से रूस में कोई विशेषता नहीं है। हाँ! यह अवश्य है कि रूस के वैवाहिक नियम समाज में कानून-रूप में प्रचलित हैं और यहाँ मनु की सुनता कौन है? बस, यही एक भारी अन्तर है। केवल यही बात नहीं, रूस अन्य विषयों में भी भारत से आगे नहीं हैं इस सम्बन्ध में हम 'आज का रूस' नामक पुस्तक से एक उद्धरण देते हैं। जिससे आप कुछ जान सकेंगे:—

"रूस में आधुनिक कम्यूनिटी जीवन का विचार बहुत कुछ हमारे भारतीय ग्राम्य-जीवन के विचार के सामान है, हम अपने देश में जीवन की जिस प्रणाली को नष्ट कर रहे हैं, रूस उसी को उत्पन्न करने के लिये सख्त कोशिश कर रहा है। हमारे ग्राम्य-जीवन का आदर्श ग्रामियों का सहयोग और मित्र-भाव है। वे पारस्परिक सहयोग के द्वारा ही रामलीला रासलीला, दंगल आदि मनोरंजक लाभदायक बातों का प्रबन्ध करते और सामान रूप से उनका आनन्द लेते थे। हर एक गाँव में सब के लिए एक ही नाई, धोबी, लोहार आदि होता था और गाँव की पंचायत को उनपर सर्वोपरि अधिकार होता था यदि कोई

व्यक्ति समाज के हित के विरुद्ध कोई कार्य करता था तो पंचायत समाज के इन सम्मिलित सेवकों को आज्ञा दे सकती थी कि वे उस व्यक्ति विशेष की सेवा बन्द कर दें। रूस के कम्यूनिस्ट समाज में भी आज समाज के सभी सदस्यों के लिए सम्मिलित भोजनालय, सम्मिलित स्कूल, सम्मिलित धोबी खाने, सम्मिलित क्लब और थियेटर आदि रखने की कोशिश हो रही है। आजकल रूस उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह कृषि सम्बन्धी हो या औद्योगिक हो, विशेषज्ञ पैदा करने की अत्यधिक कोशिश कर रहा है और उसे इस विशेषज्ञता पर बड़ा गर्व भी है। यह विशेषज्ञता हमारे ग्रामों में न जाने कब से चली आती है। नाई, धोबी, सुनार, लोहार ही नहीं बल्कि किसान, कुम्हार, बढ़ई और पुरोहित तक पुश्त दर पुश्त से अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ हैं, क्योंकि हमारे यहाँ जाति-भेद का विचार ही इसी विशेषज्ञता पर अवलंबित है जैसा कि हमारे गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है—चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टम गुण कर्म विभागसः-लेकिन आजकल पाश्चात्य विचारों में मस्त होकर और पूंजीवादी प्रतियोगिता का सामना होने पर हम लोगों ने अपने जीवन की पुरानी पद्धति तोड़ दी है, हमें मजबूरन यह कहना पड़ा, लेकिन मेरी समझ में

यह गलत रास्ता था, रूस को पश्चिम की महान् भूल ज्ञात हो गई है और वह अपने समाज का पुनर्निर्माण कर रहा है जो शायद लगभग प्राचीन हिन्दू आदर्शों के लाइन पर ही होगा रूस के कम्यूनिटी हाउसों की तुलना हमारे ग्रामों से हो सकती है। हमारे ग्रामों में अब तक तमाम ग्राम निवासी—चाहे वे जमींदार हों या किसान, मालिक हों या मजदूर, महाजन हों या कर्जदार—मतलब यह कि उनके आर्थिक स्थिति में चाहे जो अन्तर है—सामाजिक दावतों में बराबरी से बैठते हैं और एक ही सी पत्तल में भोजन करते हैं, गांवों के उत्सवों में सब की आवाज साथ होती है—यही बात कम्यूनिटी हाउसों में है इससे कोई सरोकार नहीं कि कोई मजदूर क्या कमाता है, उसे या उसके बच्चों को सम्मिलित भोजनालय से वैसा ही भोजन मिलेगा, क्रेशे में उसके बच्चे की वैसी ही देख-रेख होगी और स्कूल में उसके बच्चों को वैसी ही तालीम मिलेगी, जैसी कि एक इञ्जीनियर के लड़के को। बच्चों की परवरिश कम्यूनिस्ट विचारों से की जा रही है, उन्हें सिखाया जाता है कि वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की बात न सोचकर सम्पूर्ण कम्यूनिटी-समाज के स्वार्थों की चिंता करें।"

अब आगे स्वतंत्रता या आज़ादी के उन दीवानों के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ लिखनी हैं, जो सुधारवादी होने का ढोल पीट कर प्राचीन ऋषियों के आदेशों का तिरस्कार कर रहे हैं।

स्वतंत्रता अथवा आज़ादी के सम्बन्ध में कहना यह है कि आधुनिक सुधारवादी स्वतंत्रता या आज़ादी का जो अर्थ ले रहे हैं, उसको मनु उच्छृङ्खलता के नाम से पुकारते हैं। वे कहते हैं उससे मनुष्यता का सर्वनाश होने के सिवा भलाई होने का स्वप्न देखना निरी मूर्खता है। इस प्रकार की उच्छृङ्खल स्त्रियाँ अपने नेत्रों के तीक्ष्ण कटाक्षों से समाज के वातावरण को सर्वदा दूषित करते रहने का प्रयत्न करती रहेंगी। कुछ आज़ाद स्त्री और पुरुषों के चरित्र इस विचार की पुष्टि करते हैं। कितने उच्छृङ्खल पुरुष निर्भीकता के साथ विभिन्न स्त्रियों को नित्य-प्रति दूषित किया करते हैं और कितनी स्त्रियाँ ऐसी हैं जो नित्य ही नवयुवकों को अपने दूषित आचरण-बल से बिगाड़ने का प्रयत्न करती रहती हैं। इसीलिये तो वे कहते हैं:—

अस्वतंत्राः स्त्रिया कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनोवशे॥

मनु० ९—२

स्त्रियाँ सर्वदा अपने पतियों के संसर्ग में रहें, और यदि वे संभवतः विषय में आशक्त होने लगें तो उनके पतियों को चाहिये कि वे उनको अपनी आत्मा के आधीन करें।

पतियों के संसर्ग में रहने से दोनों एक दूसरे के आधीन रहेंगे और इस प्रकार कोई कदापि सुमार्ग छोड़ कुमार्ग को न ग्रहण कर सकेंगे। इससे मनु का प्रयोजन परतंत्र करने का नहीं है। परन्तु आधुनिक सुधारवादी मिथ्या अनर्गल प्रलाप कर रहे हैं। फिर स्वतंत्रता का प्रयोजन यह थोड़े है कि वह अपने आपको उच्छृंखल बना ले। स्व=अपने+तंत्र=आधीन अपने आधीन रहने के लिये तो प्रकृति की ही आज्ञा है। पति, स्त्री का आधा अंग है। स्त्री, पति का आधा अंग है। अतएव एक दूसरे की आधीनता आश्चर्य जनक नहीं। स्वतंत्रता या आजादी का प्रयोजन यह आज्ञा नहीं देता कि मनुष्य अपने आपको नियम के विरुद्ध आचरण करने वाला बना डाले। स्वतंत्रता का प्रयोजन प्रकृति के नियमों की आधीनता है। इस आधीनता के चक्कर में पड़कर मनुष्य प्रेम करना सीखता है। सीखने के पश्चात् अपनी बुद्धिबल से अपने प्रेम को चिरस्थायी बनाता है। पशुओं में इस प्रकार का दृश्य इतनी अधिक मात्रा में न दृष्टिगत होगा।

प्रकृति ने हमारा निर्माण किया है। हममें गुण दिये हैं, हममें शक्ति दी है, हमको चाहिये कि हम उसके दिये हुए शक्ति और गुणों का दुरुपयोग न करें। अन्यथा हमको कष्ट होगा। क्योंकि प्रकृति ने स्त्री और पुरुष परस्पर विरोधी जो दो भिन्न २ शक्तियों को उत्पन्न किया है, उसमें उसका प्रयोजन कुछ न कुछ अवश्य निहित है, जिसे हम परस्पर का साहचर्य कहते हैं। अतएव किसी प्रकार का अंकुश न रख कर यदि दोनों को निर्भीकता से मिलने दिया जायगा तो किसी न किसी दिन साहचर्य का चित्र अवश्य चित्रित होगा। इसलिये कि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं इन पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं।

सृष्टि नियम कहता है—प्यार हर एक से एक तरह का हो, श्रद्धा सब से एक तरह की हो, परन्तु इसकी भी सीमा है और भिन्न २ दृष्टिकोण हैं। अतएव जिस प्यार से तुम्हें क्षति की आशंका हो उसको व्यक्त मत करो। क्योंकि—"अति सर्वत्र वर्जयेत्।" वह जितनी मात्रा में व्यक्त किया जाना चाहिये उतनी मात्रा में उसको उपयोग में लाओ। इसमें तुम्हारी भलाई, समाज का उत्थान, देश का गौरव निहित है।

इतने शिक्षाप्रद, और कहानी लिखने की शैली इतनी मनोहर और सरल है कि बच्चे उसे बिना ऊबे एक साँस में पढ़ जाते हैं। हमारा यह दावा है कि जादू की माला हाथ में आते ही रोता हुआ बच्चा खिलखिला कर हँसने लगेगा, लापरवाह बिगड़ा हुआ बालक सीधे रास्ते पर आ जायगा। हमारा अनुरोध है कि इस पुस्तक की एक कापी अपने बच्चे को अवश्य दीजिये। मूल्य

-तरंग

[लेखक—श्री रामलखन जी

बाल-तरंग में त्रिपाठी जी की बालकों के स्वभावानुकूल, सरल, सुन्दर और छोटी छोटी कविताओं का संग्रह है। कविताएँ पढ़कर बच्चे फिरिहिरी की तरह नाचने लगते हैं; गेंद की तरह उछलने लगते हैं, चिड़ियों की तरह फुदकने लगते हैं और मोतीचूर के लड्डू की तरह, छितरा जाते हैं। इतनी और उपयोगी पुस्तक का मूल्य ।-) मात्र